नैतिक कथा मंजूषा

भाग २

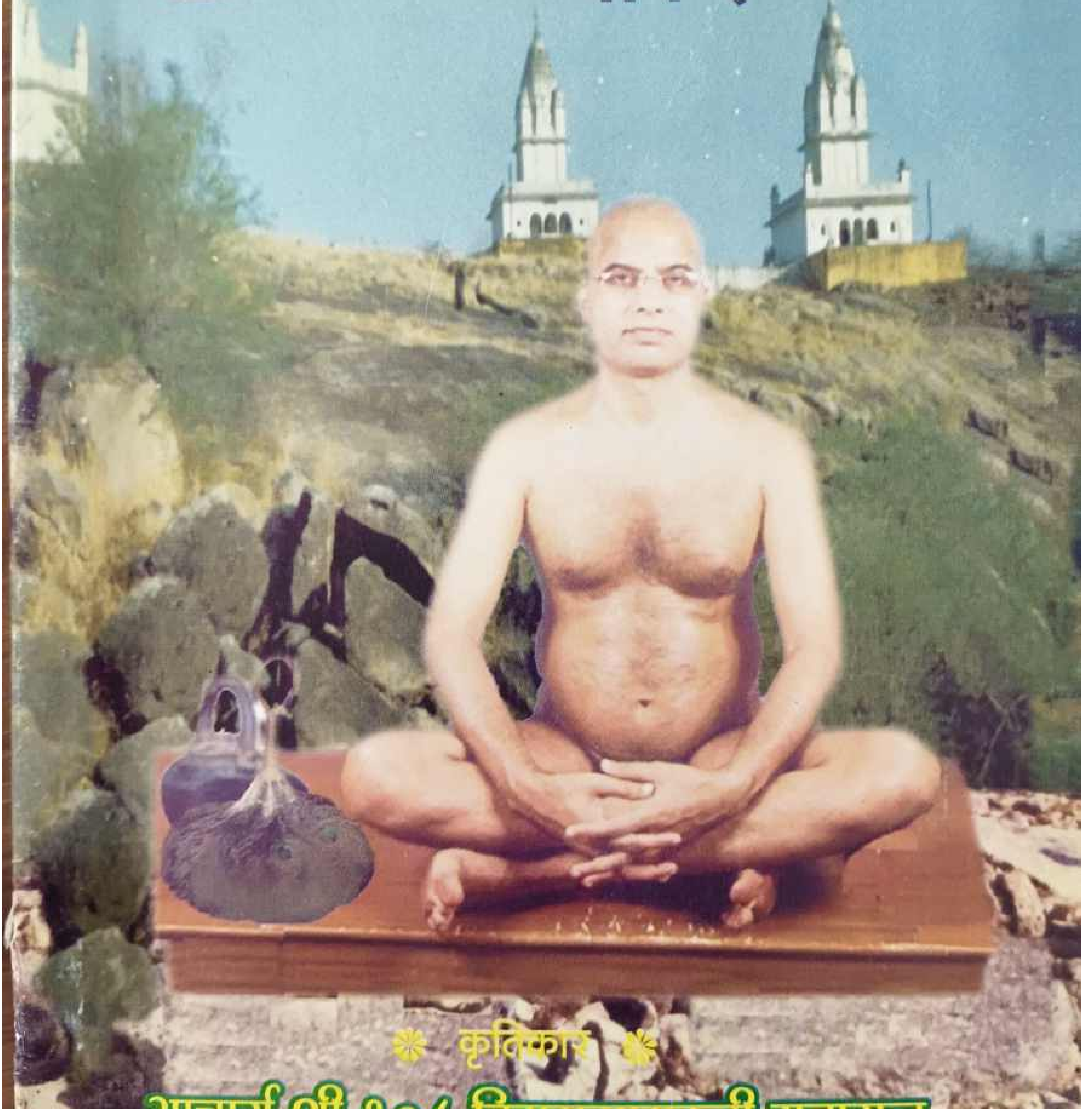

कृतिकार

आचार्य श्री १०८ विरागसागरजी महाराज

॥ॐ॥

*श्री. १०८ आचार्य विरागसागरजी महाराज का तेरहवाँ आचार्य पद दिवस समारोह के पावन अवसरपर *

पौराणिक कथा साहित्य

नैतिक कथा मंजूषा

भाग २

* लेखक *

प. पू. आ. श्री १०८ विराग सागर जी महाराज

* प्रकाशक / प्राप्ति स्थान *

श्री सम्यग्ज्ञान दिगंबर जैन विराग विद्यापीठ
बतासा बाजार, भिण्ड (म.प्र)

नैतिक कथा मंजूषा भाग २

पावन अवसर :

श्री. १०८ आचार्य विरागसागरजी महाराज का तेरहवाँ आचार्य पद प्रतिष्ठा महोत्सव २००४ कारंजा (लाड) जि. वाशिम महाराष्ट्र - ४४४ १०५

अर्थ सौजन्य

१) श्री. विमलकुमार सेठी
श्रीमती विजयलक्ष्मी सेठी,
सचीन, पायल एवम् अनुज सेठी, खामगांव (महाराष्ट्र)

२) डॉ. आशिष प्रेमचंद गरीबे, कारंजा (लाड)

३) श्री. धरणेन्द्र सुंदरलालजी मेहत्रे, कारंजा (लाड)

४) श्री. हितेन्द महेन्द्रजी गंधक, कारंजा (लाड)

५) श्रीमती आशालता माणिकलालजी बंड, कारंजा (लाड)

६) सौ. वन्दना निलेश फुलाडी, कारंजा (लाड)

७) सौ. अपेक्षा विनोद वैद्य, कारंजा (लाड)

८) सौ. वर्षा ज्ञानेन्द्र वैद्य, कारंजा (लाड)

९) सौ. विद्युल्लता विकास गुळकरी, यवतमाळ

मूल्य : २० रूपये (पुन:प्रकाशन हेतु)

संस्करण : २००० (चतुर्थ)

कंपोजिंग एवम् साजसज्जा

सौरभ महेन्द्र रवने (जैन)
आदीनाथाय कॉम्प्युटर्स,
चवरे लाईन कारंजा (लाड)
फोन नं. (०७२५६) २२२४९०

मुद्रक

अरूण मुद्रण, मेन रोड कारंजा

✻इनके सौजन्यसे.....✻

श्री विमलकुमार सेठी श्रीमती विजयलक्ष्मी सेठी

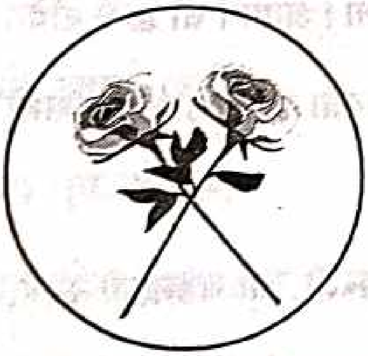

डॉ. आशीष प्रेमचंद गरिवे सौ. वर्षा आशीष गरिबे

तथा .....
श्री. धरणेन्द्र सुंदरलालजी मेहत्रे, कारंजा (लाड)
श्री. हितेन्द महेन्द्रजी गंधक, कारंजा (लाड)
श्रीमती आशालता माणिकलालजी बंड, कारंजा (लाड)
सौ. वन्दना निलेश फुलाडी, कारंजा (लाड)
सौ. अपेक्षा विनोद वैद्य, कारंजा (लाड)
सौ. वर्षा ज्ञानेन्द्र वैद्य, कारंजा (लाड)
सौ. विद्युल्लता विकास गुळकरी, यवतमाळ

भक्ति प्रसून.....

परम पूज्य १०८ आचार्य विराग सागर जी महाराज एक युवा तपस्वी सन्मार्ग दिवाकर ऋषि हैं। वे सद्गुरू हैं 'आराध्य देव हैं', वे ज्ञान की, दयाकी अप्रतिम मूर्ति है। काव्य सृजक, कवि हृदय हैं, सिद्ध हस्त लेखक हैं।

सन २००३ में भिलाई में हुए उपसर्ग के काल में ३६ घंटे एक ही मुद्रा में स्थित रहे। उपसर्ग निवारण के पश्चात प्रथम' उद्बोधन में उन्होंने अपूर्व क्षमाशीलता का परिचय दिया।

गुरुदेव का श्रमण संस्कृति के उत्थान में महत्वपूर्ण योगदान हैं। इन्होंने सामाजिक चेतना को जाग्रत करने का ऐसा शंखनाद किया है कि आने वाला युग इसके योगदान को भी कभी भूल नहीं पायेगा। आचार्य श्री द्वारा रचित नैतिक कथा मंजूषा से समाज में नैतिकता की भावना जाग्रत होगी एवं सभी आत्मकल्याण की ओर अग्रसर होगे।

इस पुस्तक के प्रकाशन में श्री डोलस गुरूजी, श्री महेन्द्रजी रवने, इंजीनियर दिनेश जैन ने जो अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उसके लिये मैं अत्यन्त आभारी हूँ। अंत में उपसर्ग विजेता पूज्य गुरूदेव के चरणों में त्रिकाल नमोस्तु।

चरण चंचरीक

विमल कुमार सेठी

विजयलक्ष्मी सेठी

द्वारा वर्धमान सिंटेक्स, खामगांव (महा.)

॥ॐ नमः सिद्धेभ्यः॥

नैतिक कथा मंजूषा

मंगलाचरण

विश्वशान्ति णमोकार महामन्त्र

णमो अरहंताणं — अरहंतो को नमस्कार हो।

णमो सिद्धाणं — सिद्धो को नमस्कार हो।

णमो आयरियाणं — आचार्यों को नमस्कार हो।

णमो उवज्झायाणं — उपाध्यायों को नमस्कार हो।

णमो लोए सव्वसाहूणं — लोकवर्ती सभी साधुओं को नमस्कार हो।

एसो पंच णमोयारो, सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवई मंगलं ॥

अर्थ - यह पंच नमस्कार मंत्र सभी पापों को नष्ट करने वाला है और वह विश्व के सभी मंगलों में पहला मंगल है।

आद्य मिताक्षर

साहित्यिक विधाओं में 'कथा–कहानी' एक ऐसी विधा है, जो धर्म के नैतिक एवं सैद्धांतिक तत्त्वों को अत्यंत सरलता के साथ हृदयंगम् करा देती है। यह एक ऐसी रचना है, जो पतित–से–पतित प्राणियों को भी अपनी ओर आकर्षित कर, उन्हें धर्म और नैतिकता की ओर अग्रेसर करती है। फिर सच तो यह है कि जब तक व्यक्ति के अन्दर नैतिकता नहीं आती, तब तक वह 'धर्म' से कोसों दूर रहता है। नैतिकता से शून्य प्राणी धर्म की पावन छत्र छाया में जाने को भी लालायित नहीं होता। अत: नैतिकता के अभाव में धर्म की आराधना कदापि सम्भव नहीं है। इसलिए यह आवश्यक है कि मनुष्य के जीवन में प्रथमत: नैतिकता का समावेश होना चाहिए, जिससे कि व्यक्ति के अन्त:करण में सच्ची श्रद्धा और भक्ति का भाव जाग्रत हो सके और वह नैतिकता रहित कार्यों के प्रति उपेक्षा भाव रख सकें। ऐसी स्थिति निर्मित होने पर व्यक्ति किसी भी स्थिति में ऐसे कार्य नहीं करेगा, जो लोक–निन्दा के कारण बन सके।

'अहिंसा' सृष्टि का सर्वमान्य सिद्धांत है, जिसके महात्म्य को ऋषि–मुनि, आचार्य और उपाध्यायों ने विस्तार से रेखांकित किया है। इसीलिए आचार्यों ने कहा है कि किसी जीव को सताना नहीं चाहिए तथा ऐसा प्रयास करना चाहिए कि हमारे वाणी, व्यवहार और क्रिया आदि से यत्किंचित भी किसी को कष्ट का अनुभव न हो। इस प्रकार की भावना को जीवन में जाग्रत करने के लिए हमें 'नैतिकता ' की ओर अग्रसर होना चाहिए।

समकालीन समय में 'कथा–साहित्य' एक ऐसी विधा है, जो मिष्ठ चासनी के समान हमारे हृदयों को मिठास की अनुभूति प्रदान करती रहती है। इसके सेवन से हम जीवन के उन महान संतापों से मुक्ति पा लेते है, जिनका निदान अन्य किसी औषधि से सम्भव नहीं है, – दुराचार, अनैतिकता, चरित्रहीनता, बेईमानी, भ्रष्टाचार, हिंसा, कदाचार आदि।

प्राय: देखा जाता है कि प्रत्येक बालक अपने बचपन में बूढ़े–बुजुर्गों से या दादी–नानी से मनोरंजन हेतु छोटी–छोटी कहानियाँ सुना करते हैं। वे ही कथाऐं अन्तर्मन पर एक ऐसी छाप छोड़ जाती है कि बड़ा होने पर जीवन की धारा को बदल देती है। उन कथाओं का ही प्रभाव है कि मेरे जीवन की धारा एकदम से परिवर्तित हो गई और मेरे मन मेंबचपन से ही धर्म के प्रति आस्था और श्रद्धा दृढ़ होती चली गई। वास्तव में ये छोटी–छोटी कथाएँ सत्य का उद्घाटन, जिस

सरलता के साथ करती हैं, उससे भव्य जीवों का अत्यन्त सरलता के साथ उद्धार हो सकता है। आज के संक्रमणशील वातावरण में इस प्रकार की कथाओं की महती आवश्यकता है, जो मनुष्य को सुपथ की ओर अग्रसर कर सकें। यद्यपि जैन साहित्य में ऐसे अनेकों कथा ग्रंथ हैं, जो नीति एवं धार्मिक शिक्षा से ओत–प्रोत हैं, किन्तु वे ग्रंथ इतने क्लिष्ट और अलंकृत भाषा में लिखे गये हैं कि उनका सारतत्व जानना सभी के वश की बात नहीं है। आज की युवा पीढ़ी ऐसे ग्रंथो को पढ़ने से कतराती है या फिर साहस भी करती है तो उसे हताशा ही हाथ लगती है। ऐसी स्थिति में जैनागम की कथाओं को अत्यन्त सरल भाषा में प्रस्तुत करने के प्रयोजन से ही मैने इस **''नैतिक कथा मंजूषा''** के द्वितीय भाग का आलेखन किया है, क्योंकि इस पुस्तक के **'प्रथम भाग'** से युवा–पीढ़ी को जो **'सुपथ'** मिला है, उसने उनकी जीवन धारा को ही परिवर्तित कर दिया है। इस पुस्तक में भी नैतिकता से ओत–प्रोत विषयगत स्थितियों को इतनी सरलता और सुबोधता के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया, जिससे कि पाठक और श्रोता मूल भावना से भलीभाँति परिचित होकर, अपनी जीवन धारा को बदलने में सफल हो सकें। सरल स्वभावी, धर्म–प्रेमी, गुरुभक्त श्री विमलकुमार सेठी, श्रीमती विजयालक्ष्मी सेठी खामगांव तथा डॉ. आशीष गरिबे, सौ वर्षा आशिष गरिबे एवं श्री धरणेन्द्र सुंदरलालजी गंधक, श्री हितेन्द्र महेंद्रजी गंधक, श्रीमती आशालता माणिकलालजी बंड, सौ. वन्दना निलेश फुलाडी, सौ. अपेक्षा विनोद वैद्य, सौ. वर्षा ज्ञानेन्द्र वैद्य, सौ. विद्युल्लता विकास गुळकरी कारंजा (लाड) इन्होंने **'नैतिक कथा मंजूषा'** के द्वितीय भाग के प्रकाशन का भी श्रेय प्राप्त कर, जन–जन को, जो ज्ञान दान (पुस्तक का प्रकाशन) किया है, वह अत्यन्त प्रशंसनीय है। मेरा उन्हें यह विशेष आशीर्वाद है कि वे इसी तरह सत्साहित्य प्रकाशन में उदारता से दान देकर आत्म–कल्याण के पथ पर अग्रेसर होते रहें। इस पुस्तक के प्रकाशन में श्री महेन्द्रजी रवने, कारंजा, इंजिनियर दिनेश जैन भिलाई ने जो सराहनीय योगदान किया है, वह निश्चित रूप से प्रशंसनीय है।

आदीनाथाय कॉम्पूटर्स कारंजा के सौरभ रवने इन्होंने इस पुस्तक को संगणक पर जो कंपोजिंग एवम् साजसज्जा तथा आकार दिया है उन्हें और इस पुस्तक को शीघ्र छपवाकर उपलब्ध कराने में अरूण मुद्रण के श्री विपीन जोहरापूरकर उन्हें भी मेराशुभाआशीष। भविष्य में इसी तरह सद्–साहित्य प्रकाशन में अपना सराहनीय योगदान करते रहें।

ॐ नमः

आचार्य विरागसागर

प्रस्तावना

सम्पूर्ण जिन वाणी द्वादशों मे निरूपित है इसे ही अंग प्रविष्ट श्रुतज्ञान कहते हैं। द्वादशांग के छटवें अंग का नाम ज्ञातधर्मकथांग (नाथ धर्म कथांग) है। यह अंग पाँच लाख पच्चानवें हजार पद प्रमाण था। इसमें अनेक नैतिक एवं धार्मिक कथाओं और उप कथाओं का वर्णन था। किन्तु खेद हैं कि वर्तमान में वह उपलब्ध नहीं है। हां उसके ही अवशिष्ट अंश बाह्य रूप में उपलब्ध है। वह भी इतना विशालतम है जिसे यदि हम जन्म के प्रथम दिन से लेकर मृत्यु के अंतिम क्षण तक लगातार दिन रात पढ़ते रहे तो भी पूर्ण नहीं हो सकता है।

कथा की परिभाषाऐं :- कथा के विषय में कहा है कि मोक्ष पुरूषार्थ उपयोगी होने से जो त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) का कथन करने वाली कथा होती है। तप संयम गुण के धारी साधु पुरूष सर्व संसारी प्राणियों के हितार्थ जो कहते है उसे कथा कहते है। अथवा महापुरूषों का नामोच्चरण, गुणोत्कीर्तन, चरित्र वर्णन करना कथा है। अथवा जो द्रव्य, थल, प्राकृत विषय, अनेक प्रभेद, क्षेत्र, तीर्थ और काल विभाग इन सात अंगो का वर्णन करती है तथा जो युक्ति से युक्त होती है उसे कथा कहते है।

कथा के भेद प्रभेद :- कथा का उल्लेख मुख्यतः तीन रूप में आता है -

सत्‌कथा, विकथा, धर्म कथा।

(१) सत्‌कथा (धर्म कथा) :- एक अंग के अधिकार के उपसंहार का नाम धर्म कथा है। उसमें जो उपयोग है वह भी धर्मकथा है ऐसा ग्रहण करना चाहिए। अथवा जिससे जीवों की स्वर्गादि अभ्युदय तथा मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है वास्तव में वही धर्मकथा है उससे संबंध रखने वाली कथा संदर्भ कथा है अथवा जिसमें धर्म का विशेष निरूपण होता है उसे बुद्धिमान पुरूष सत्कथा कहते हैं।

न्याय ग्रंथो कीअपेक्षा कथा के मुख्य दो भेद है -

(अ) वीतराग कथा : गुरू शिष्य के बीच होनेवाली तत्व निर्णायक कथा।

(ब) विजिगीषु कथा : वादी प्रतिवादी के बीच होने वाली जय पराजय परक कथा। अथवा बात, जलप, वितण्डा के भेद जो न्यायिक दृष्टि से ३ भेद है।

(२) **विकथा :-** इसके चार भेद हैं –

(१) स्त्री कथा - स्त्रियों की राग वर्धनी कथा।

(२) राजकथा - राजा या राष्ट्र की राग द्वेष वर्धनी कथा।

(३) कथा - चोरी विषयक कथा।

(४) भक्त कथा - भोजन विषय राग वर्धनी कथा।

थीराजचोरभक्त कहादिवियणस्य पावहेष्स्य ।

पाप के हेतु भूत ऐसे स्त्री कथा, राजकथा, चोर कथा, भक्त कथा इत्यादि रूप वचनों का त्याग करना वचन गुप्ति है।

(३) धर्मकथा :- इसके चार भेद हैं – आक्षेविणी, विक्षेविणी, सवैजनी, निवैजनी

आक्षेविणी:-

जो नाना प्रकार की एकांत दृष्टियों का और दूसरे समयों का निराकरण पूर्वक शुद्धि करके छः द्रव्य और नौ पदार्थ का प्ररूपण करती है उसे आक्षेविणी कथा कहते हैं।

पुरूषाथेपियोगित्वात् त्रिवर्ग कथमं कथा।

तव संयम गुणधारी जं चरणं कहिति सब्भावं।

सत्व जग जीवहिय स उकटटा देसिया समष्ट। दश. वै.नि.२१०

तन्नोंमोचरण तदगुणोत्कीर्तन तच्चरित्रवर्णनादिका वचन पद्धति कथा

(व.२ अधि अभि. रा.भा. ३१४०२)

दृव्य फंलं प्रकृत मेवहि सप्रभेदं क्षेत्रं च तीर्थमय काल विभाग भावौ।

अंड्नि सप्त कथन्ति कथा प्रबन्धे ते: सयुतां भवति युक्तिमती कथा सा

(वराग, १-६)

५. एक्कंगस्य एगाहियारोव संहारोधम्म कहा।

तत्थ जो उव जोगो सो वि धम्म कहा त्रिधेत्वो॥

(व ९/४, १५५/२६३/४)

६. यतोभ्युदयनि: श्रेयसार्थ संसिद्धि रज्जुसा।

सद्धर्भस्तविनबद्धा या स सद्धर्भ कथा स्मृता॥

म.पु. १२०/१

७. तत्रापि सत्कथा धर्म्यामानन्ति मनीषिण:।

म.पु.११८

८. अक्खेवणीणाम छछत्वणवपयत्याणं सरुवं।
दिगन्तर समयान्तर जिराकरणं सुद्धि करेंती पव्वेदि॥
९. तत्व अक्खेवणीणामं छछत्वणवपयत्याणं सरुवं
दिगन्तर समयान्तर जिराकरणं सुद्धि करेंती पव्वेदि॥

ब १/१,१,२/१०५/१

विक्षेवीणी :- जिसमें पहिले पर समय के द्वारा स्व समय में दोष बतलाये जाते हैं अनन्तर पर समय की आधार भूत अनेक एकान्त दृष्टियों का शोधन करके स्व समय की स्थापना की जाती है और छः द्रव्य नौ पदार्थों का निरूपण किया जाता है, उसे विक्षेवीणी कथा कहते हैं।

संवेदनी (संवेजनी) :- पुण्य के फल का कथन करने वाली कथा को संवेजनी कथा कहते है। यथा पुण्य के फल कौन हैं। तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, देव और विद्याधरों की ऋद्धिया पुण्य के फल है।

निर्वेदनी (निर्वेजनी) :- पाप के फल वर्णन करने वाली कथा को निर्वेदनी कथा कहते है। यथा पाप के फल कौन है। नरक, तिर्यंच, और कुयोनियों में जन्म, जरा, मरण, व्याधि, वेदना और द्ररिद्र आदि की प्राप्ति के फल हैं अथवा संसार शरीर और भोगों में वैराग्य के उत्पन्न करने वाली कथा निर्वेदनी कथा है।

कथा विषयक विचार धाराऐं:- कथा कहानियाँ पहिले भी थी अब भी हैं। सर्वाधिक प्राचीनतम काल में कथाऐं श्रुति रुप में प्रचलित थी किन्तु आज श्रुति और लिपि रुप में प्रचलित है। आख्यान गद्य कहानी प्रसंग दृष्टांत आदि भी सामान्य दृष्टि से कथा के हि समानार्थक नाम है।

मेक्समूलर, हटेल आदि अनेक विद्वानों ने स्वीकारा है कि भारतीय कहानियाँ का अटूट प्रवाह प्राचीन काल से पश्चिमकी और प्रवाहित हो रहा है और वे वहां के वातावरण के अनुकूल प्रचलित हो वैचारिक प्रदूषण को उपशांतकर रही हैं। सुप्रसिद्ध युरोपीय विद्वान वी. सी. एच. टाने अपने ग्रंथ 'ट्रेजरी ऑफ स्टोरीज' की भूमिका में स्वीकार करते है कि जैनों के कथा कोषों में संकलित कथाओं व युरोपीय कथाओं का अत्यंत निकट का साम्य है।

कथा महत्व :- कथा साहित्य सामान्य जन को भी गूढ़ से गूढ़ तत्व का परिचय करा देती हैं। कथाऐं उपदेशों के रूखे विषय को भी स्निग्ध बना देती है। वे सिद्धांत की शुष्कता को

भी सरस कर देती है।कथाओं का प्रभाव व्यापक और गहरा होता है उनका सीधा और गहरा प्रभाव प्रणियों के हृदयपटल पर पड़ता है। वे जीवन में नया मोड़ ला देती हैं, मन को प्रसन्न और समय के सदुपयोग में अनुपम योगदान होता है। वे अधैर्य को धैर्य, अज्ञानी को ज्ञानी, असदाचारी को सदाचार, निर्बल को शक्ति, अशांत को शांति, असंतोषी को संतोष देती हैं। और तो क्या हिंसक, झूठे, चोर, व्यभिचारी, लोभी व्यक्तियों की भी आंखे खोल देती हैं। आदत से लाचारों को मीठी डाट और साधु पुरूषों को ममतामयी प्रोत्साहन भी देती है।

इत्यादि नैतिक धार्मिक विकास हेतु ही मैंने आगमानुसार श्रेणिक चरित्र को ही लघु-लघु कथा कहानियों में ढालने का प्रयास किया है प्रथम भाग के पश्चात् आज यह दूसरा भाग प्रकाशित हो रहा है साधु जन त्रुटियों को क्षमा करें।

१०. विक्खेवणी णाम पर समाएण स-समयं दसंती पच्छा दिगंतर सुद्धि करेती

स-सयमं थावतंती छदव्वणव पयत्थे परूवेदि।

उक्तं च विक्षेपणी तत्वदिगन्तर शुद्धिम॥

१०घ. १/१, १२/१०५/२

११. संवेपणी पाम पुण्य फल संकहा।

कणि पुण्य फलाणि।

तित्थयर गणहर रिसिचरक्कवटि वलदेव वासुदेव सुर विज्ञयाहररिद्धीओं

उक्तं च संवेगणी धर्मफल प्रपज्वा।

घ. १/१, १,२/१०५/४

१२. णिव्वेयणीणाम पावफल संकटटा।

कणि पाव फलाणि।

णिस्यतिस्य कुमाणुस जोणिसु जाई जरा मरण वाहि वेद्यणा दालिद्दादीणि।

संसार-शरीर भोगेसु वेरग्गुपयाइणी णिव्वेयणीणाम्।

उक्तं च निर्वेगिनी चाह कथां विरागात॥

घ. १/१, १२/१०५/५

*****

कथा मंजूषा तालिका

कथाक्रम .... पृष्ठ क्रमांक

१) पुरूषार्थी चित्रकार भरत १४
२) बिना विचारे जो करे........................ १६
३) चित्र दर्शन-विचित्र गति १९
४) कला का सम्मान २१
५) पितृ भक्त अभयकुमार........................ २२
६) दृढ़ आस्था २४
७) चोरी और सीना चोरी........................ २६
८) कथनी और करनी........................ २८
९) पाखण्ड एवं पर्दाफाश ३०
१०) एक अचम्भा ३२
११) इतना अन्याय ३४
१२) हार्दिक धर्म स्नेह ३६
१३) समता-दर्शन ३८
१४) बिना विचार का फल ४०
१५) सत्य की खोज एवं परीक्षा ४३
१६) सत्य के पुजारी - मुनिराज धर्मघोष........................ ४५
१७) साहसी सत्यव्रती-मुनिराज जिनपाल ४७
१८) वैरागी - मुनिराज मणिमाली ५०
१९) उपसर्गजयी - मुनिराज मणिमाली ५२
२०) गुरूभक्त जिनदत्त और औषधदान ५४
२१) तूंकारी का क्रोध ५६
२२) कृतघ्नता एक पाप ५९
२३) अधैर्यता क्यों? ६१
२४) उपकारी के प्रति भी उपकार........................ ६३

कथाक्रम	पृष्ठ क्रमांक

२५) काम करो पर सोच कर ६४

२६) रक्षक का ही भक्षण ६६

२७) झूठा आरोप........................ ६८

२८) प्राण रक्षक का भी घात ७०

२९) वफादार नेवला........................ ७२

३०) धोखेबाज शिष्य ७४

३१) गुरूभक्त श्रीकृष्ण ७६

३२) दर्शन से परिवर्तन........................ ७८

३३) परिणामों का खेल........................ ८०

३४) गर्भकाल में भी जन्मान्तर का प्रभाव........................ ८२

३५) वैर के दर्शन बचपन में ८४

३६) पितृ भक्ति ८६

३७) परस्त्री हरण ८८

३८) रात्रि भोजन त्याग........................ ९०

३९) देव मूढ़ता ९२

४०) लोक मूढ़ता ९४

४१) यति हत्या ९६

४२) धर्मात्मा एक हाथी........................ ९८

४३) सम्यक्त्व की परीक्षा........................ १००

४४) अभय कुमार का वैराग्य १०२

४५) वारिषेण का वैराग्य........................ १०४

४६) कुपुत्र कुणिक १०६

४७) पुत्र स्नेह १०८

४८) महारानी चेलना का वैराग्य ११०

४९) भावी तीर्थंकर श्रेणिक ११२

१. पुरूषार्थी चित्रकार भरत

विश्व के इस आर्यावर्त में पहले इतने पुण्यशाली प्राणी थे कि उन्हे किसी भी प्रकार की अर्थोपार्जन हेतु आजीविका नही करनी पड़ती थी। उस समय कल्पवृक्ष थे जो प्राणियों को किमिच्छित वस्तुयें दिया करते थे। उस काल को शास्त्रकारों ने भोगभूमि काल कहा हैं। जैसे जैसे प्रणियों का पुण्य घटता गया वैसे वैसे कल्पवृक्ष समाप्त होते गये।

भगवान ऋषभदेव के समय तक वे इतने कम एवं नीरस हो गये, जिससे प्राणियों मे विषाद होने लगा। एक दिन क्षुधातुर हो वे महाराज ऋषभदेव के समक्ष उपस्थित हुये, उन्होने अपने दु:ख का निवेदन किया तथा आजीविका के उपाय पूछे।

आदि ब्रम्ह, आदि मनु, आदि तीर्थंकर महाराज ऋषभदेव ने उन सबके दु:ख को सुना और करुणा से आर्द्र होकर उन्हें असि, मसि, शिल्प, कृषि, विद्या, वाणिज्य इन छ: कर्मो का उपदेश दिया तथा भरतादि पुत्र एवं ब्राम्ही आदि पुत्रियों को विद्यायें एवं कलायें सिखाई।
उनमे से चित्रकला भी एक विद्या थी।

चित्रकला एक ओर जितनी रुखी एवं शुष्क हैं दूसरी ओर उतनी ही सुंदर एवं सरस विद्या है। चित्रकला एक वस्तु है जो व्यक्ति की छाया को कल्प काल तक जीवित रखती हैं।

चित्रकला वह विद्या है जो दुरुह एवं सूक्ष्म विषयों को भी समझाने मे एक अध्यापकीय कार्य करती है, चित्रकला वह विद्या है जिससे प्राणी अवाक भावों को भी साकार रुप दे सकता है। अनेक चित्र पुरुषार्थ एवं हस्तकला पर निर्भर है परंतु अनेक चित्रकार अपने लेखनीय चित्र को बुध्दिबल एवं हस्त कला से साध लेते है किन्तु अनेक ऐसे भी चित्रकार होते हैं जो अपने लेखनीय चित्र को किसी देवी देवता के बल से साधते हैं। उन्ही मे से हैं यह एक दृष्टांत:-

आर्यावर्त के मध्य मे अयोध्या नगरी अति प्राचीन एवं शाश्वत नगरी हैं। क्यों कि यह तीर्थंकर आदि अनेक शलाका पुरुषों की जन्म भूमि एवं कर्म भूमि है।

किसी समय वहां पर एक 'भरत' नामक चित्रकार रहता था। वह चित्र कला मे अति प्रविण था। एक दिन उसके मन मे एक विचार आया कि मैं

ऐसी कोईविद्या सिध्द करुं कि जिससे तूलिका (चित्रपट)पर हाथ रखते ही चित्र बन जाए अनवरत प्रयास एवं विवेक से उसने एक उपाय खोज ही निकाला ''ठीक ही हैआवश्यकता अविष्कार की जननी होती है'' युक्ति के अनुसार उसने अनवरत भगवान पार्श्वनाथ की आराधना के साथ–साथ जिनशासनी देवी पद्मावती की आराधना आरंभ कर दी।

यथार्थ श्रद्धा एवं विधि से किये गये पुरुषार्थ का फल मीठा होता है ''हार्दिक भावना से की गई साधना में देर हो सकती है किंतु अंधेर नही।'' फलस्वरुप थोड़े ही समय मे आराधना में लीन 'भरत' के समक्ष देवी ने प्रकट होकर उससे किमिच्छित वरदान मांगने को कहा ! देवी को सामने देखकर भरत प्रसन्न हुआ और गद्‌गद्‌ हो कहने लगा –हे माता यदि तूं मुझपर प्रसन्न हो तो मुझे ऐसा वरदान दे कि जब कभी मैं जैसे ही संकल्प पूर्वक तूलिका पर हाथ रखूं वैसे ही इच्छित अति सुंदर चित्र बन जाया करें, बस यहीं मैं चाहता हूँ और मुझे कुछ नही चाहिये। देवी ने 'तथास्तु' कहा और अंतर्ध्यान हो गई ।

सिध्दि प्राप्त कर भरत अपने घर आ गया तथा उसने अनेक ऐसे चित्र बनाये जो बड़े–बड़े चित्रकारों को भी आश्चर्यचकित कर देने वाले थे। इससे उसकी किर्ति दशों–दिशाओं मेशीघ्र ही फैल गयी।

देखिये ! पुरुषार्थ का फल कितना मीठा होता है। पुरुषार्थी प्राणी चाहे तो अपने सत्यनिष्ठ पुरुषार्थ से हर असंभव कार्यो को संभव कर सकता है। पुरुषार्थी के समक्ष ऐसा कोई सा भी कार्य नही है जो पूर्ण न हो सके ।

अत: हम सभी को किसी भी कार्य को करने के पूर्व आत्म विश्वास एवं संकल्प शक्ति चाहिये, और फिर उसे अपने विवेक व पूर्ण मनोयोग से करने का पुरुषार्थ करना चाहिये । तब निश्चित ही सफलता हमारे साथ होगी।

*****

२. बिना विचारे जो करें

सिंध देश में स्थित वैशाली अति ही विशाल एवं सुन्दर नगरी थी। वहां के राजा चेटक बड़े ही न्यायशील, धर्मात्मा एवं प्रजा वात्सल्य गुणों से युक्त थे। वे जैनधर्म के कट्टर अनुयायी थे। उनकी पटरानी का नाम सुभद्रा था। सुभद्रा के सात पुत्रियाँ थी - मनोहरा, मृगावती, वसुप्रभा, प्रभावती, जेष्ठा, चेलना, और चन्दना। इनमें से चार पुत्रियों का विवाह हो चुका था, तथा शेष तीन पुत्रियां अभी कुंवारी (अविवाहित) थीं। चेटक के आश्रम में उस समय एक प्रसिद्ध चित्रकार रहता था, उसका नाम था भरत। एक दिन वे तीनों ही पुत्रियां ज्येष्ठा, चेलना, और चन्दना चित्रकार भरत के पास पहुँच गई तथा उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगी। ''कला यह एक ऐसा गुण है जो कलाकार को जनमानस से प्रशंसनीय एवं स्तुत्य बना देती है।'' भरत की सुक्ष्म एवं सुन्दर चित्रकला को देख ज्येष्ठा ने उससे कहा कि भरत ! मैं तुझे सच्चा चित्रकार तभी समझूंगी जबकि तूं चेलना का सुन्दर निरावरण (नग्न) चित्र बनाकर हम सबको दिखा दे। ज्येष्ठा के उक्त वचन सुनते ही भरत ने बिना कुछ विचार किये ही शीघ्रता से पट पर चित्र बनाने हेतु कलम उठाकर पद्मावती देवी का स्मरण किया, स्मरण करते ही चेलना का निरावरण चित्र पटपर बन गया। कलाकार की साधना मुखरित हो उठी। चित्र क्या था साकार जीवित चेलना चित्रपट में समाहित थी। उसे सुसज्जित कर भरत ने ज्येष्ठा को सौंप दिया। चित्र इतना सुन्दर एवं मनमोहक था कि उसमें अंग प्रत्यंगों पर स्थित सूक्ष्म चिन्ह भी अंकित हो गये। यहां तक कि चेलना के गुप्तांगों में स्थित तिल आदि भी अंकित थे।

कलाकार की कमनीयता चित्र में साकार हो उठी। उसे देखकर ज्येष्ठा

आश्चर्य से हतप्रभ हो गई। कलाकार की प्रशंसा में उसकी वाणी से प्रसन्नता की निर्झरणी बह निकली। लगता था कलाकार ने चित्र नहीं रति की साक्षात मूर्ति ही चित्रित कर दी है। ज्येष्ठा, चेलना के गुप्तांगो पर स्थित चिन्हों को देख कर विस्मित हुई और विचार करने लगी कि इस अपरिचित विदेशी को राजकन्या का रहस्य कैसे ज्ञात हुआ। उसके मन में तरह-तरह के संकल्प-विकल्प उठने लगे। ''विस्मय युक्त घटना को देख किसे विस्मय नहीं होता और यदि कारण अज्ञात हो तो अवश्य ही भ्रमोत्पादक बन जाता है।'' नीतिकारों ने ठीक ही कहा है कि बिना विचारे जो कार्य करता है वह पग-पग पर दुःख पाता है। ''**अविवेकः परमानंद।**''

राजकुमारी ज्येष्ठा की विचार पूर्ण मुद्रा एवं चित्र को देख किसी गुप्तचर ने उक्त समाचार महाराज चेटक को सविस्तर कहकर सुनाया। ''सेवक वही सच्चा जो गुप्त समाचार का पता लगाकर करके अपने स्वामी को सूचित करें।'' जो सेवक गुप्त बातों को भी जाकर अपने स्वामी से निवेदन नहीं करता हैं वह अवश्य ही कभी न कभी अपने स्वामी को कष्ट एव पश्चाताप के अथाह सागर में डुबो देगा।'' दूत के मुख के उक्त समाचार सुन महाराज चेटक को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे सोचने लगे कि अवश्य ही इस दृष्ट का चेलना से कोई गुप्त संबंध होना चाहिए, अन्यथा वह चेलना के इन चिन्हों को कैसे बना सकता था। महाराज चेटक का शरीर क्रोध से तमतमा उठा आंखे लाल हो गई मानों कलाकार को भस्मीभूत करने के लिए नेत्रों से विकराल ज्वाला निकलने वाली हो। राजकोप कलाकार को दंडित करने के लिए मचला उठा। उसे बन्दी बनाकर उपस्थित करने की कठोर आज्ञा सेवकों को दी गई। वे भरत को अपमानित कर देश से निकालने की सोच ही रहे थे कि इतने में भी भरत को यह समाचार ज्ञात हो गया कि महाराज हमारे ऊपर कुपित हैं। राजाज्ञा की खबर पाते ही भरत के होश उड़ गये। उसे अपनी गलती का एहसास हुआ। नारी के वचनों में उसने अपनी सिद्ध साधना को

अविवेक मार्ग में प्रयुक्त कर दिया था। जिसका परिणाम था सिर्फ मौत। अंत:पुर की दर्भेध दीवार का उल्लंघन। गहन अक्षम्य अपराध बोध से कलाकार का मन भय से सिहर उठा वह समझ गया कि महाराज के समक्ष इस समय जाना मौत को खुला निमंत्रण देना है। अत: उनसे कुछ कहना भी व्यर्थ है। क्योंकि ''क्रोध के क्षणों में अविवेक का राज्य होता है।'' उस समय कोई किसी की बात नहीं सुनता है और न स्वयं समझ ही सकता है। अत: यहां से स्वयं निकल जाना ही श्रेयस्कर है और उसी में हमारी रक्षा है। ऐसा सोचकर वह वहां से निकल गया।

देखो बिना विचारे किया गया कार्य का परिणाम यह हुआ कि भरत को अपमानित होकर निकलना पड़ा। बिना विचारे किया गया कार्य भी प्राणी को दु:ख का कारण बन जाता है।

''बिना विचारे जो करे, सो पाछे पछताय।
काम बिगाड़े आपनों, जग में होत हंसाय॥''

अत: हमको चाहिए कि हम जब कभी भी जो कुछ कार्य करें पहले उसके बारे में अच्छी तरह सोच लें, लाभ-हानि को देखे फिर कदम बढ़ाऐं। यही सफलता एवं प्रसन्नता की कुंजी है।

*****

३. चित्र दर्शन-विचित्र गति

अपमान से पीड़ित वह चित्रकार भरत अयोध्या से चलते-चलते मगध देश की राजधानी राजगृही में आ गया। उसके मन में महाराज चेटक द्वारा प्राप्त अपमान का सबसे बड़ा क्षोभ था। वह किसी भी उपाय से इसका बदला लेना चाहता था। बस इसी कारण वह अहर्निश चिंतामग्न रहने लगा।

किसी दिन उसने उपाय खोज ही लिया। उसने एकान्त स्थान पर बैठकर चेलना का एक अति सुन्दर चित्र बनाया और चित्र में चेलना के समस्त हाव-भाव अंकित कर उसे सुन्दर वर्णों (रंगों) से इस प्रकार सजाया जिससे वह साक्षात किसी अप्सरा सी प्रतीत होने लगी। जब चित्र पूर्ण तैयार हो गया तब उसने उसे ले जाकर बड़े आदर एवं विनय के साथ मगध नरेश श्रेणिक को सौंपा।

भरत की विनय एवं शिष्टाचार से सभासद लोग बड़े प्रसन्न हुए। महाराज श्रेणिक भी बड़े प्रसन्न हुए और एकाग्रता से उस चित्र को देखने लगे। वस्तु देखने की गहरी छाप दर्शक के हृदय पटल पर अवश्य पड़ती है। (देखने मात्र से व्यक्ति का चरित्र बनता भी है और बिगड़ता भी है) मगध नरेश भी चित्र देखते-देखते इतने भाव विह्वल हो गये कि उन्होंने भरत से उस चित्रित कुमारी का परिचय पूछा तथा उसे प्राप्त करने का उपाय पूछा। भरत ने चित्रित कुमारी का परिचय देते हुए कहा कि महाराज ! यह चित्र वैशाली महाराज चेटक की छठवीं पुत्री चेलना का है। चेलना स्त्रियोचित सम्पूर्ण गुणों से युक्त एक अद्वितीय कन्या है। यद्यपि आपके ही योग्य है किन्तु.....!

किन्तु क्या ? श्रेणिक ने चित्रकार की हिचक को तोड़ते हुए अपना प्रश्न बाण फेंका। प्रत्युतर में चित्रकार बोला-चित्र में अप्सरा को भी तिरस्कृत करने वाली सुन्दरी और कोई नहीं महाराज चेटक की पुत्री है और महाराज चेटक को तो आप जानते ही है। वे जैन धर्म के कट्टर अनुयायी हैं। उनकी प्रतिज्ञा है कि मैं अपनी समस्त कन्याओं का विवाह जैन राजकुमारों या राजाओं से ही करूँगा अन्य किसी से नहीं। आप बौद्ध धर्मावलंबी है। वह तो आपको तभी मिल सकती है जब आप जैनधर्म स्वीकार करेंगें। राजा

श्रेणिक न्यायप्रिय राजा थे। उन्हें अन्याय पूर्ण आक्रमण कर विवाह करना उचित न था। किन्तु चेलना को हर किसी प्रयत्न से प्राप्त करना चाहते थे। वे इसी भावना की तीव्रता से मूर्छित हो पृथ्वी पर गिर पड़े। मोही जीव की दशा मात्र देखने का भी प्रभाव जटिल होता है कि वह धीर-वीर पुरूषों को भी विचलीत कर देता है। महाराज को मूर्छित देख राजसभा में खलबली मच गयी। समाचार सुनते ही युवराज अभयकुमार शीघ्र ही दौड़े-दौड़े आये। उन्होंने शीतोपचार से पिता की मूर्छा दूर की। पश्चात् मूर्छा का कारण पूछा ....! कुमार का विशेष आग्रह देख महाराज श्रेणिक ने मूर्छा का कारण चित्र दर्शन ही बताया और कहा से यह चित्र देखा है तभी से मेरा मन इस कन्या को पाने के लिये विह्वल हो उठा है। इसके बिना सारा राज-पाट नीरस दिखने लगा है। हे पुत्र! अधिक क्या उसके बिना मेरा जीवन समाप्त ही समझो।

पिता की हार्दिक वेदना को सुन अभय कुमार ने उन्हें धैर्य बंधाते हुये कहा कि हे पिता श्री ! आप निश्चिंत रहें मैं अवश्य ही आपकी इच्छा पूर्ति करूंगा। मैं अभी वैशाली नगर जाकर शीघ्र ही चेलना को लाता हूं। आप किसी भी प्रकार का विषाद न करें। इतना कह वह अपने स्थान की ओर चला गया। देखिये ! मात्र देखने का प्रभाव किसी प्राणी पर कितना गहरा पड़ता है। उसे अपनी मर्यादा का अकिंचित भी भान नहीं रहता। वह दृश्य या चित्र देखना भी व्यर्थ है कि जिसे देखने से हमारा मन चलायमान हो जाय। न देखना अच्छा किन्तु देखकर पश्चाताप की आग में झुलसना अच्छा नहीं है। महाराज श्रेणिक कितने महान एवं न्यायशील राजा थे तो भी उनकी क्या स्थिति हुई, तो अन्य जन की बात ही क्या ....?

अत: हमको चाहिये कि हम ऐसे दृश्य या चित्र देखें कि जिसे देखने से हमारा मन उन्नतिशील प्रसन्न एवं पवित्र हो सके।

पर्वत जाये पदम् सलिले जातु पावक: ।
पीयुष काल कूटे च विचारस्तु न वालिशे ॥

कदाचित पर्वत के ऊपर कमल उत्पन्न हो जाये, जल में आग उत्पन्न हो जाये या काल कूट विष में अमृत उत्पन्न हो जावे, परन्तु कभी मूर्ख में विचार उत्पन्न नहीं हो सकते।

*****

४. कला का सम्मान

प्रोत्साहन यह एक ऐसा गुण है कि जिससे कार्य सफलताओं में एक अपूर्व ही बल मिलता है। यदि हम किसी के अच्छे कार्यो में सहयोग ना दे सकें किन्तु मात्र उसकी सफलताओं को देख हर्ष के साथ उसकी सराहना कर देते हैं तो कार्य करने वाले को एक अपूर्व शक्ति प्राप्त होती है। जिसके माध्यम से वह अपने अधूरे कार्य को कई गुना अच्छा करके दिखा देता है।

जंबूद्वीप के भरत क्षेत्र में वैशाली नगरी के पास एक सिद्ध हस्त भरत नामक चित्रकार रहता था। वह वैशाली नगरी में पहुंचा। वहां उसने अनेक विस्मयोत्पादक चित्र बनाए। भरत के चित्र यद्यपि निर्जीव थे किन्तु दर्शकों को सजीव की भ्रांति उत्पन्न कर रहे थे। ''कला में एक ऐसी सम्मोहन शक्ति छुपी होती है जो कलाकार की प्रसिद्धि क्षण में दिगदिगान्तर तक फैलाकर उसकी कला को चिरस्थाई कर देती है।'' भरत की चित्रकला की चर्चा सारी नगरी में होने लगी। यहां तक की वहां के राजा चेटक तक भी उसकी चर्चा पहुंची जिसे सुनकर महाराज बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने 'भरत' को ससम्मान राजसभा में बुलाया और अपनी मनोहरा, मृगावती, वसुप्रभा, ज्येष्ठा, चेलना और चन्दना नामक सात पुत्रियों का चित्र बनवाया।

चित्रकार भरत ने तूलिका पर हाथ रखते ही सातों पुत्रियों का अतिसुन्दर चित्र बना दिया। जिसे देखकर महाराज चेटक अति प्रसन्न हुए। उन्होंने भरत की चित्रकारी की भूरि-भूरि प्रशंसा की और उसे बहुमूल्य रत्न भेंट दिए। ''कला का सम्मान एक विद्या का सम्मान है। कलाओं से मात्र व्यक्ति की नहीं अपितु समूचे नगर एवं देश की प्रसिद्धि होती है।'' राजसम्मान पाकर 'भरत' फूला नहीं समाया उसका उत्साह चौगुना बढ़ गया था। अबकी बारी, उसने सातों पुत्रियों का चित्र अपने गृहों के दरवाजों पर बनवाए और चित्र की कला व आकर्षणता इतनी श्रेष्ठ थी कि धीरे-धीरे लोग इसे पूजने लगे और कालान्तर में वे ही चित्र सातमाता के नाम से प्रसिद्धि हो गए।

यद्यपि यह मूढ़ता है कि किसी के रूप को देख उसमें इतने मोहित हो जाना कि किसी के सत्यासत्य का ध्यान न रखते हुए मनुष्य के चित्र देवी के चित्र कहने लगा। तथापि यहाँ तो चित्रकारी भरत की कला का ही विषय वर्णित है कि उसकी कला और रूचि ने उसे सारे नगर और राजा तक ने सम्मानित बना दिया।

अत: हम सभी को चाहिये कि हम भी अपने विवेक एवं योग्य श्रम से ऐसी कला विद्या का उपार्जन करें कि जो इस लोक में सम्मानित करती हुई परलोक में भी मुक्ति का साधन बने।

*****

५. पितृ-भक्त अभय कुमार

मगध देश के राजा श्रेणिक के बुद्धिमान पुत्र अभय कुमार ने अपने पिता श्री की इच्छा पूर्ति हेतु अनेक उपायों पर विचार किया किन्तु उन्हें उपयुक्त नहीं लगे। क्योंकि राजा चेटक जैन धर्म के अनुयायी थे। और वे ऐसा कुछ नहीं करना चाहते थे जिससे दो राज्यों के परस्पर संबंधों में बिगाड़ हो। अन्ततोगत्वा एक उपाय खोज ही लिया और वह उपाय था छल नीति से कार्य को सिद्ध करना। मन में निश्चय कर उन्होंने शीघ्र ही नगर के सभी जैन धर्मावलंबी सेठों को बुलाया और उन सबसे व्यापार हेतू अपने साथ चलने हेतु कहा- कुमार की आज्ञा से सभी चलने को तैयार हो गये। ''पुण्य का अर्थ वैभव की आपूर्ति करना मात्र नहीं है अपितु इच्छित मनोभिलाषा को पूर्ण करना है।'' पुण्यवानों की ऐसी कौन सी इच्छा है जो अधूरी रहती है।

अभय कुमार ने खजाने से बहुत सारा धन लेकर पिताश्री से गमन हेतु अनुमति ले ली। और सेठों के साथ प्रस्थान किया। व्यापार करते हुये वे एक दिन सिंध देश की वैशाली नगरी में जा पहुंचे। अभय कुमार जैन सेठों के साथ रहने के कारण जैन श्रावकों संबंधी क्रियाओं में निपुण हो गये। अब वे नित्य ही जिनेन्द्र पूजा, सत् पात्रों को आहार दान, त्रिकाल सामायिक एवं स्वाध्याय आदि करने लगे।

उक्त क्रियाओं के करने में वे इतने निपुण हो गये कि सभी सेठ इन्हें ''जैन'' कहने लगे। अभयकुमार ने वहां के राजा चेटक को बहुमूल्य रत्न भेंट करते हुये अपना परिचय दिया। हे पृथ्वीनाथ ! हम लोग जैन धर्मावलंबी हैं तथा जवाहरात के व्यापार हेतु यहां आए हैं। हे कृपालु ! यदि आप राज महल के समीप ही किसी भवन में हम लोगों का प्रबंध करा दें तो आपका बड़ा उपकार होगा। महाराज चेटक अभय कुमार की वाक् कुशलता, शिष्टाचार तथा विनय पर बड़े प्रसन्न हुये। ''शिष्टाचार समन्वित विनय में एक गुण है जो प्राणी को जन मन में सम्मान का भाजन बना देती है।'' महाराज चेटक ने सभी जौहरियों को महल के निकट एक भवन दे दिया।

अभय कुमार ने उस भवन में एक सुन्दर चैत्यालय बनवाया और प्रतिदिन सुन्दर-सुरीले संगीतों द्वारा सुमधुर ध्वनि में जिनेन्द्र प्रभु की आराधना करने लगे। वहां पर नित्य ही धार्मिक नृत्य, पूजन, आरती तथा श्रेष्ठ शलाका पुरुषों के पुराणों का स्वाध्याय होने लगा। धीरे-धीरे राजमहल की भी स्त्रियां उनके साथ जिन भक्ति में भाग लेने लगी। ''श्रेष्ठ मन सुन्दर

उच्चारण पूर्वक की गई जिन पूजन जब कर्मों का संबर तथा निर्जरा तक करा देती हैं तो फिर किसी को अपनी और आकृष्ट करने में क्या असमर्थ होगी? अर्थात् नहीं।''

एक दिन ज्येष्ठा, चेलना और चन्दना भी अपनी स्त्रियों के साथ वहां पहुंची। वे कुमार की भक्ति से बड़ी प्रभावित हुई। तथा उन्होंने इससे अनुमान लगाया कि जिस देश के ऐसे धार्मिक व्यापारी हैं उस देश में कितनी धर्म साधना होती होगी, तथा वहां का राजा भी कितना धर्म-निष्ठ होगा! अत: उन्होंने अभय कुमार से वहां के राजा का नाम, नगर का नाम, नगर, कुल, जय तथा धर्म के विषय में पूछा। ''जो जिस वस्तु का हार्दिक अनुरागी होता है उसे वह अन्य लोगों में भी देखना चाहता है।'' कन्याओं के प्रश्न को सुनकर अभयकुमार मन ही मन बड़े प्रसन्न हुए। ''अपने मनोरथ को सफल होता हुआ देख कौन प्रसन्न नहीं होता।'' अभय कुमार ने महाराजा श्रेणिक का पूर्ण परिचय दिया और कहा कि वे जैन धर्म के अनुपालक हैं तथा वय में अभी वयस्क (नौजवान) हैं। राजपुत्र अभय कुमार से वह यह समाचार सुन राजकुमारियां अति प्रसन्न हुई। वे राजा पर इतनी आसक्त हो गई कि उन्होंने उसी समय ऐसा निर्णय ले लिया कि यदि मेरा विवाह हो तो मगध नरेश से ही हो। उन्होंने अपने महल से लेकर राजमहल तक पहुंचने के लिए सुरंग खुदवाई।

सुरंग में घनघोर अंधकार देख ज्येष्ठा और चंदनबाला घबड़ा गई और राजमहल की ओर लौट पड़ी तथा अभयकुमार चेलना को लेकर राजगृह नगर पहुंच गये। दूत द्वारा समाचार पाकर महाराज श्रेणिक ने वाद्यध्वनि से चेलना का महल में प्रवेश कराया। शुभ मुहूर्त में उनका चेलना के साथ विवाह हुआ उन्होंने उसी समय चेलना को महारानी (पटरानी) पद से विभूषित किया। वे अभय कुमार के इस अदम्य साहस से तथा पुत्र प्रेम से फूले ना समाये। ''पुत्र के अदम्य साहस का गर्व होने लगा। पितृभक्ति को भी अपनी कर्तव्यनिष्ठा पर अति हर्ष हुआ। वे भी अपनी पितृभक्ति की सफलता पर फूले नहीं समा रहे थे।

देखिये, अभय कुमार की पितृभक्ति जिन्होंने हमें जन्म दिया है, पाला-पोसा है, पढ़ा लिखा कर गुणवान बनाया है , स्वयं अनेक कष्टों को सहन कर हमें हर कष्टों से बचाया है। क्या हम उनके एक भी कष्ट दूर नहीं कर सकते। यदि वे हमारी धर्म साधना में सहायक हैं तो हमें चाहिये कि हम उन्हें हर कष्टों से मुक्त कर धर्मानुयायी बनायें और स्वयं भी धर्मपथगामी पिता के पद चिन्हों पर चले। यही हमारी सच्ची पितृभक्ति है।

*****

६. दृढ़ आस्था

असत्य कभी छिपाने से छिपता नहीं, । हां ! समय लग सकता है किंतु वह प्रगट अवश्य हो जाता है जैसे रुई लपेटी आग। विवाह के कुछ दिनों बाद ही महारानी चेलना ने यह जान लिया कि यहां का संपूर्ण वातावरण बौध्द धर्मावलंबी है और स्वयं महाराज भी बौध्दावलंवी हैं । इससे उन्हे गहरी ठेस लगी । चिंता एवं विषाद से उसका चित्त भर गया। अव उसे अभयकुमार धर्म निष्ठ की जगह एक छलिया नजर आने लगा ।प्रसन्नता का स्थान चिंता एवं खेद ने ग्रहण कर लिया। जिस से उसकी भूख एवं नींद समाप्त हो गई और वे दिन प्रतिदिन कमजोर होने लगीं ।

एक दिन महाराज श्रेणिक ने महारानी चेलना को अति कमजोर एवं विषाद पूर्ण मुद्रा मे देखा। उन्हो ने उन से चिंता का कारण पूछा तथा उस से कारण जानने की हार्दिक जिज्ञासा प्रकट की। उन्हो ने कहा क्या आपको किसीने सताया हैं, उपहास किया है,आपको किसी वस्तु की अभिलाषा है, आपको कोई रोग संबंधी कष्ट है, या आपके कष्ट का क्या मैं ही कारण हूं ? हे , रानी ! तुम शीघ्र ही अपने कष्ट का कारण प्रगट करो जिससे मैं उसके निवारण का प्रयत्न कर सकूं । हार्दिक जिज्ञासा मे वह शक्ति होती है कि वह हर प्रयत्न से समाधान को प्राप्त करा देती है ।ऐसी कौनसी समस्या है जो हार्दिक जिज्ञासा को असंभव है ? महाराज श्रेणिक की हार्दिक जिज्ञासाने महारानी के मौन की गांठे खोल दी। उन्हो ने कहा, हे प्राणनाथ! मेरे शोक मे न तो आपका कोई दोष है और न आपके राजप्रासाद के किसी सदस्य का, न मुझे कोई रोग है न कोई इच्छा, सच पूछो तो मेरे दु:ख का कारण एक मात्र जैनधर्म विच्छेद ही हैं। यद्यपि महाराज श्रेणिक ने उन्हे विचलित करना चाहा

और राजा रानी मे जैनधर्म तथा बौध्द धर्म संबंधी विचारों मे बहुत देर तक उहापोह हुआ।किंतु रानी को उन्होने अपने धर्मपर दृढ़ निष्ठावान पाया अत: उन्होने रानी से कहा कि हे प्राण वल्लभे ! तुम्हारी जिस धर्मपर अभिरुचि हो तुम उसी धर्म का पालन करो,आपको जैन धर्म से कोई नही रोकेगा और न तुम्हारे लिये कोई बाधा देगा। महाराज की स्वीकृति से महारानी के आनंद का कोई पार नही रहा। उसका हृदय गद्‌गद् हो उठा। उसने राजगृह में सुंदर तथा विशाल एक जिन मंदिर बनवाया और उसमे संगीत तथा मांगलिक वाद्य ध्वनि के साथ नित्यमह जिनार्चना प्रारंभ कर दी। जिसका प्रजापर बड़ा प्रभाव पड़ा सभी लोग जैन धर्म से बड़े प्रभावित हुये।

देखिये सच्चे श्रध्दालु कोई कितना भी क्यों न डिगाना चाहे,हर तरह का प्रयास करे तो भी वह नही डिगता। यही उसकी सच्ची आस्था की कठिन परीक्षा है।

जो अपनी सत्य निष्ठा में मेरुवत् निष्कंप रहता है उसे विश्व की कोई भी शक्ति नही डिगा सकती।

अत: हमें चाहिये कि हम भी अपने धर्म में रानी चेलना के समान दृढ़ आस्थावान बनें।किसी भी परिस्थिति में धर्म से पराङ्‌गमुख न होवें।

*****

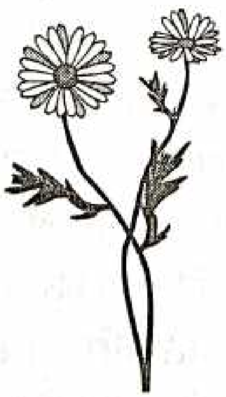

७. चोरी और सीनाजोरी

सत्य पर गर्व होना स्वाभाविक है किंतु आश्चर्य है कि आज का प्राणी असत्य की ओर अग्रेसर है, वह अभिमान एवं पंचागृह मे इतना चूर-चूर है कि उसे अब असत्य ही सत्य के रुप मे दिख रहा है। सत्य को तो वह देखना भी नहीं चाहता, जानना और स्वीकार करना तो बहुत दूर की बात है। सबसे अधिक आश्चर्य तो इस बात का है कि कितने ऐसे भी प्राणी हैं जो सत्य को सत्य और असत्य को असत्य जान कर भी अपनी असत्य धारणा को नही बदलते।

मगध नरेश महाराज श्रेणिक एवं महारानी चेलना का सानंद समय व्यतीत हो रहा था। महारानी चेलना के स्त्रियोचित अनेक गुणों से तथा धर्म परायणता से महाराज श्रेणिक फूले नहीं समा रहे थे। उनकी जैनधर्म परायणा एवं सत्य निष्ठा से प्रजा भी बड़ी संतुष्ट थी।

किसी दिन बौध्द भिक्षुओं को समाचार मिला कि महाराज श्रेणिक की पटरानी चेलना जैनधर्म की परम उपासिका हैं, वह उसके प्रसार प्रचार में शक्तिश: संलग्न है। इतना होनेपर भी महाराज ने उसे पटरानी के पद से विभूषित किया है।

यह समाचार सुनकर वे बड़े चिंतित एवं दु:खी हुये। 'असत्य निर्णय की यह प्रथम परीक्षा है जिस से परिक्षार्थी का हदय थर-थर कांपने लगता है उसे भविष्य मे आनेवाली समस्याओं के प्रति बड़ा भारी कष्ट होता है'। वे सब भिक्षुक महाराज के पास शीघ्रही दौड़ आये। आते ही उन्हो ने महाराज श्रेणिक से कहा कि हे, पृथ्वीनाथ! क्या आपको ज्ञात नहीं कि आपके राजमहल में एक भ्रान्त(पागल) महिला ने जैनधर्म का प्रसार प्रचार कर बौध्दधर्म पर सबसे बड़ा कुठाराघात किया है। और उसे ही आपने अपनी पटरानी बनाया है। ध्यान रखो यह बौध्दधर्मपर सबसे बड़ा संकटकालीन अवसर है।

भिक्षुओं की वार्ता सुनकर राजा श्रेणिक क्षणभर गंभीर हो गये और उनसे विनय पूर्वक बोले-हे पूज्यवर! मैंने आपके कहने के पूर्व भी रानी को हर प्रकार से समझाने का प्रयास किया किंतु मेरे प्रतिबोध का रानी पर कुछ प्रभाव नही पड़ा है। अत:उसे प्रतिबोधित करने में असमर्थ हूं। आप लोग शास्त्रवेत्ता हैं,ज्ञानी हैं, विद्धान हैं आप लोग ही शास्त्र सम्मत तर्कणाओं द्धारा उसको हदय परिवर्तन कर बौध्दधर्मावलंबी बना सकते हैं।''अशक्त

कार्यो को दूसरो पर छोड़ देना ही बुध्दिमत्ता है।'' महाराज श्रेणिक का कथन सुनकर सभी भिक्षुक संतुष्ट हुये और कहने लगे राजन् अब आप बिल्कुल निश्चिंत रहें हम सब त्रिकालदर्शी भिक्षु अवश्य ही उस रानी पर बौध्दधर्म कीगहरी छाप लगायेंगे। उसे बौध्दधर्मावलंबी बनायेंगे। हम लोगों के ज्ञान के समक्ष उसकी तर्कणा शक्ति है ही कितनी? हम लोगोंको बड़े-बड़े शास्त्रों का ज्ञान हैं। हम लोगों ने अनेकों शास्त्रार्थो में विजय पायी है। अवश्य ही हम रानी चेलना को भी पराजित कर विजयी होंगे। बौध्द गुरुओं की इतनी दंभ भरी बातें सुनकर राजा श्रेणिक मन ही मन मुस्करा उठे।

ठीक ही है''गरजने वाले बरसते कम है''। वे सब भिक्षु रानी चेलना के भवन की ओर प्रस्थान कर गये। उसी समय उनके मन मे सिर्फ एक चाहना थी कि जैसे भी हो बौध्दधर्म का झंडा ऊंचा उठना चाहिये चाहे हमें सत्य का अपलाप ही क्यों न करना पड़े।

(देखिये ! असत्य जिर्सन का क्षोभ प्राय: अज्ञानी को होता है क्योंकि इससे उनका गर्व गलता है किंतु ज्ञानी जन को क्षोभ नहीं होता क्योंकि वे पक्षाव्यामोह से विरहित सत्य जिज्ञासु होते हैं''।) उन्हे तो अपनी असत्यता का भान होते ही बड़ा हर्ष होता हैं कि अच्छा हुआ मुझे अपनी सबसे बड़ी भूल की जानकारी तो मिली जिससे मैं उसे सुधारकर सत्य को स्वीकार कर सकूं। ऐसा सौभाग्य बड़ी कठिनता से विरले जनों को ही प्राप्त हो सकता है इत्यादि।

अत: हम सभी को चाहिये कि हम किसी भी परिस्थिति में क्यों ना हों तो भी कोई भी गलती न करें। यदि कदाचित् हो जाए तो उसे जाने समझे और स्वीकार करें। किसी भी हालत में उसे छिपाएं न क्योंकि गलती ही एक पाप है, किंतु उसे छिपाने से वह महापाप बन जाती है। इसलिये उसे जानकर शीघ्र ही सुधार लेना चाहिए यही बुध्दिमानता का लक्षण है।

*****

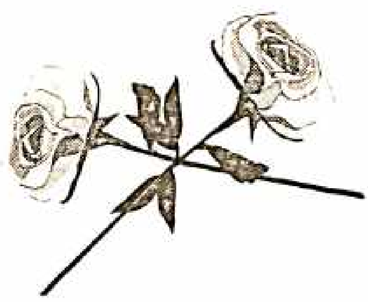

८. कथनी और करनी

कथनी और करनी मे बड़ा अंतर होता है। कथनी मे प्राय: कपोल कल्पनाओं का वास होता है अज्ञजन ही उस पर विश्वास करतें है किन्तु विज्ञजन उसे करनी की कसौटी पर कस कर ही विश्वास करते हैं।

बौध्दभिक्षु महाराज श्रेणिक से अनुमति लें महारानी चेलना के महल मे आए। वे गर्व से चूर थे। उन्हे अपने ज्ञान का बड़ा गर्व था। वे अपने ज्ञान के समक्ष किसी को कुछ भी नही समझते थे। महल मे आते ही उन्होंने रानी चेलना को उपदेश देना प्रारंभ कर दिया। उन्होने कहा, हे चेलने ! हमने सुना है कि तुम जैनधर्म को परम पवित्र धर्म समझती हो और बौध्दधर्म की कल्याणमयी वाणी से दूर रहती हो। किन्तु तुम्हारा यह विचार सर्वथा अयोग्य है । जैनधर्म कभी कल्याणकारी नही हो सकता।

देखो तो जैन साधु पशुओं के समान निर्वस्त्र रहते हैं,ये विवेकहीन होते हैं, खड़े–खड़े भोजन करते हैं । जिस प्रकार इस लोक में ये दीन दरिद्री होते हैं वैसे भी परलोक में भी होते है। रानी ! ध्यान रखो ! जो इनकी सेवा सुश्रुषा करता है उसकी भी कालान्तर मैं वैसी ही दशा होती है जैसे कि वे स्वयं है। "हां ! ईर्ष्या वश प्राणी निर्दोषों को भी कितनी बुरी नजर से देखता है। किन्तु वह यह नहीं जानता कि क्या हमारे कहने मात्र से कोई निर्दोष प्राणी दोषवान हो सकता है। सूर्य पर धूल डालने वाले पर ही धूल पड़ती है सूर्य पर नहीं।" बौद्ध भिक्षुओं की अज्ञानता भरी बातें महारानी को असह्य हो उठी और उन्होंने बीच में रोकते हुए कहा की महाराज ! मैनें आपका उपदेश सुना मुझे इस बात का संदेह है कि आपने यह कैसे जाना की दिगंबर साधु पर भव में भी दुखी एवं दरिद्री होते हैं तथा उनके उपासक भी वैसा ही दु:ख पाते है। बौद्ध भिक्षुओं ने कहा– चेलने ! क्या तुम्हें यह नहीं मालूम कि हम लोग भविष्य के वेत्ता हैं, ध्यान रखो हम लोग त्रिकालदर्शी हैं। तीनों कालों की घटनाओं को हम दर्पणात् स्पष्ट जानते है। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे हम ना जानते हों तुम हम सब पर विश्वास करो। हम जो भी कह रहे हैं वह पूर्णत: सत्य है, इत्यादि सुन रानी चेलना ने मन ही मन उनके ज्ञान की परीक्षा लेनी चाही। उसने ऊपरी मन से कहा – यदि ऐसा है महाराज तो मेरा जीवन सफल हुआ जो मुझे आप जेसे त्रिकालदर्शी गुरूओं के दर्शन हुए। लेकिन मेरी एक हार्दिक इच्छा है कि धर्म परिवर्तन के मांगलिक अवसर पर आप सब त्रिकालदर्शी गुरूजन कल भोजन के लिए महल में पधारें, इसके

पश्चात ही हम बौद्ध धर्म को स्वीकार करेंगें। बौद्ध साधुओं ने प्रसन्न होकर कहा अवश्य ! अवश्य चेलने ! हम लोग आप जैसी धर्मराज्ञी के यहां क्यों नहीं भोजनार्थ आयेंगे ? इत्यादि कहते हुए वे चले गये। वे अपने कार्य को सफल होता हुआ देख मन ही मन बड़े प्रसन्न थे।

दुसरे दिन भोजनार्थ वे महारानी चेलना के महल में पधारे। महारानी ने उन्हें ससम्मान भोजन परोसा और त्रिकालदर्शी ज्ञान की परीक्षा हेतु बाहर उतरी हुई उन भिक्षुओं की बायीं जूतियां (खडाऊं) मंगवाई तथा उन्हे गुप्त रूप से महीन पीसकर उसमें अनेक स्वादिष्ट मसाले डालकर रायता बनाया और उसे भिक्षुओं को परोसा। सभी उसे खाकर बड़े प्रसन्न हुए वे रायते की बड़ी प्रशंसा करते हुए खड़े हो गये। तब महारानी चेलना ने उनसे कहा कि महाराज आप अपने निवास स्थान पर पहुंचे मैं अभी आती हूं, वहां ही धर्म परिवर्तन करूंगी।

अच्छा ! अच्छा ! ठीक है शीघ्र आना इत्यादि कह वे जाने लगे किन्तु खड़ाऊ (जुतियों) के निकट पहुँचते ही अपनी बायीं जूतियां न देख कर विस्मित हुए उन्होंने सभी से पूंछना प्रारंभ किया किन्तु कहीं से भी उत्तर ना पाकर खेद खिन्न हो बहुत नाराज होने लगे। तब रानी चेलना ने कहा कि - महाराज, आप तो त्रिकालदर्शी हैं अपने ज्ञान से पता लगाइए ना कि वे जूतिंयाँ कहाँ हैं, इसमें गरम होने की कौन सी बात है? महारानी के वचन सुन कर सब चुप रह गये। फिर क्षण भर बाद बोले, हे रानी ! हमें भूत-भविष्य का कुछ भी ज्ञान नहीं है अब तुम शीघ्र ही हमारी जूतियाँ बताओं। तब रानी ने कहा - ओह ऐसी बात है। हे गुरूओं ! आपकी जूतियाँ तो आपके ही पास हैं। यह बात सुनते ही साधु असलियत को समझ गये तथा घृणा से उसी समय वमन हो गया। रानी ने उसमें जूतियों के टुकड़े बता दिए और उनके झूठे त्रिकालदर्शी की घोर निंदा की। जिससे वे सभी भिक्षुक बड़े शर्मिन्दा हुए और नीचे मुख किये वे अपने निवास की ओर चले गये।

देखिए ! झूठ छिपाने से कभी नहीं छिपता। भिक्षुओं ने अपने ज्ञान की डींग हांकी थी किन्तु दृढ़ श्रद्धानी रानी के समक्ष उनकी पोल खुलते देर नहीं लगी। अत: हमें भी चाहिये कि कभी असत्य सम्भाषण नहीं करें, और न उसकी पुष्टि के लिए प्रयास करें।

*****

१. पाखण्ड का पर्दाफाश

अंधविश्वास से प्राणी का सदैव अहित होता है। वह प्राणी को सत्य से विमुख कर अपयश का पात्र बना देता है। जग में सबसे बड़ी क्षति एवं हंसी का कारण एक मात्र अंधविश्वास है। विज्ञजन इससे सदा दूर रहते हैं। परीक्षण कर ग्रहण की हुई हर बात स्थाई प्रशंसनीय तथा हितकारक होती है।

महारानी चेलना की जैनधर्म में गहरी आस्था देखकर बौद्धभिक्षु चिंतामग्न रहने लगे। वे निरंतर ऐसा उपाय खोजने में निमग्न थे जिससे रानी उनका लोहा मानकर बौद्धधर्म की शरण में आ जाये। संयोग से अवसर भी शीघ्र आ गया।

राजगृह में बौद्ध साधुओं का एक विशाल संघ आ गया। सारे नगर में साधुओं के आगमन की चहल-पहल मच गई। यह बात महाराज श्रेणिक के भी कानों तक पहुंची, वे बड़े प्रसन्न हुए और शीघ्र ही महारानी चेलना के निकट आये। चेलना ने महाराज श्रेणिक का यथायोग्य आदर किया तथा आने का विनय पूर्वक कारण पूछा। महाराज श्रेणिक ने प्रसन्नता पूर्ण शब्दों में कहा कि - हे प्राण प्रिये ! नगर में आज हमारे गुरूओं का आगमन हुआ है, वे बड़े तपस्वी, ज्ञानी एवं ध्यान साधना में अद्वितीय हैं। हमें उनके दर्शन कर अपना जीवन कृत-कृत करना चाहिये। महारानी चेलना ने कहा - यदि उनमें उक्त महान गुण हैं तो मैं अवश्य ही दर्शन कर अपने जीवन को कृतार्थ करूंगी। अत: नगर के बाहर सभामंडप तैयार किया जावे जिसमें विशाल संघ अच्छी तरह से ठहर सके।

राजा श्रेणिक बड़े प्रसन्न हुये उन्होंने समझा महारानी पर अवश्य ही बौद्धधर्म का गहरा प्रभाव पड़ा है, अब वे अवश्य ही धीरे-धीरे वौद्धधर्म स्वीकार कर लेंगी। महाराज श्रेणिक ने शीघ्र ही महारानी के कहे अनुसार मंडप की व्यवस्था कर दी। मंडप में आकर साधुओं ने दीर्घ कालीन

समाधि लगाकर अपनी महनता प्रगट करना चाही। उधर महारानी चेलना भी पालकी द्धारा मंडप में पधारी और उन्होंने बौद्ध साधुओं से धार्मिक कुछ प्रश्न पुछे, तब किसी बौद्ध ब्रह्मचारी ने कहा कि हे महारानी ! अभी सभी भिक्षु समाधि में तल्लीन हैं इस समय यहां पर उनका शरीर मात्र है उनकी आत्मा तो सिद्धालय (मोक्षधाम) में विराजमान है।

बौद्ध ब्रह्मचारी की बात सुनकर महारानी चेलना ने मंडप में आग लगवा दी और स्वयं दूर खड़े होकर उक्त दृश्य देखने लगी।आग लगते ही मंडप में भगदड़ मच गयी। सभी साधु अपनी-अपनी समाधि छोड़कर दूर भाग खड़े हुये। उक्त दृश्य देखकर महारानी ने राजा श्रेणिक से कहा कि देखो प्रियवर भिक्षुओं का ज्ञान और ध्यान जिन्हें अपने शरीर का मोह है वे भला ध्यान क्या करेंगे। यह कहकर वह राजमंदिर लौट आई।

देखिये ! असत्य का रूप, भले की वह बाहर से श्वेत नजर आये, किंतु केवल बाहर से श्वेत हो जाने से कोई श्वेत नहीं हो जाता। श्वेत केवल बाहर से ही नहीं अपितु अंदर से भी होना चाहिये । साधना की जितनी बाहर से आवश्यकता है उससे भी अधिक अंदर से ! केवल बाह्य (पाखंड) से हम कुछ समय तक ही लोगों को प्रभावित कर सकते हैं किन्तु कालान्तर में अत्याधिक हंसी के पात्र बन जायेंगे।

अत: लाभ के पूर्व हानि से रक्षित होने का विचार करना चाहिये तत्पश्चात् लाभ की ओर कदम बढ़ाना चाहिये यही हमें उक्त कहानी से शिक्षा मिलती है।

*****

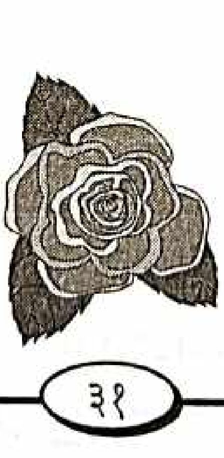

१०. एक अचम्भा

अपने इष्ट की पराजय देखकर किसे दुःख नहीं होता है फिर ताल ठोककर अखाड़े में कूंदकर भागने वाले को जितना क्षोभ होता है उससे भी कई गुना क्षोभ उसके परम हितैषियों को होता है। जो कि पहले मूछें तान कर बात करते थे।

महाराज श्रेणिक को भी अपने गुरूओं का पराभव सुनकर अत्याधिक कष्ट हुआ। वे शीघ्र ही महारानी चेलना के महल पहुंचे। वहां जाकर उन्होंने महारानी चेलना को बहुत डांटा और कहा कि ऐसा करना तुम्हारे लिए उचित था क्या? यही आपने सीखा? आपके धर्म ने यही पाठ सिखाया है? यही अहिंसा है? यदि आपकी किसी साधुओं पर श्रद्धा नहीं है तो उनका अनादर करना उचित है क्या? बोलो-क्यों नहीं बोलती हो। तब महारानी ने विनय एवं शिष्टाचार पूर्वक कहा - हे प्राणनाथ! मेंने अपनी समझ में उचित किया था।

राजा श्रेणिक - यह कैसे ?

रानी चेलना - स्वामिन् यदि कोई समाधि लेकर मोक्ष पहुंच जाए तो फिर शरीर की क्या आवश्यकता? वे साधक लौटकर इस देह में प्रवेश ना करते हुए अनन्त काल तक सिद्ध रहे आवें इसी हेतु से मैंने इनके शरीर को जलाना चाहा था। अब आप ही बताओं कि मैंने उचित किया था या अनुचित? महारानी चेलना की न्याय नीति युक्त वार्ता सुनकर महाराज श्रेणिक ने कहा - क्या कभी ऐसा हुआ है? महारानी चेलना ने कहा कि - हां, हां हुआ है महाराज। यदि आप उक्त कथा सुनना चाहते हो तो मैं सुनाती हूं। महाराज श्रेणिक ने कहा वह कौन सी कथा है कहो? महारानी चेलना ने कहानी सुनानी प्रारंभ कर दी।

महाराज! जंबूद्वीप के वत्स देश में एक कौशाम्बी नगरी है। वहां राजा वसुपाल राज्य करते थे। उनकी पटरानी का नाम अश्विनी था। हे स्वामिन! उसी नगरी में सागरदत्त नामक एक सेठ रहता था। उसकी स्त्री का नाम वासुमती था। उसी नगर में एक समुद्रदत्त नामक सेठ रहता था। उसकी स्त्री का नाम सागरदत्ता था। एक दिन दोनों सेठों ने आपस में निर्णय लिया की हम दोनों के यहां यदि पुत्र और पुत्री हुई तो उनका परस्पर विवाह करके हम दोनों सगे संबंधी बन जायेंगे। योग से सागरदत्त सेठ के यहां एक पुत्र हुआ किन्तु उसका आकार ठीक नाग के समान था। इसलिए उसका नाम वसुमित्र रखा गया। समुद्रदत्त के यहां नागदत्ता नामक कन्या हुई।

कालान्तर में धूमधाम से दोनों का विवाह हुआ।

किसी एक दिन नागदत्त की माता अपनी पुत्री को विविध आभूषणों से अलंकृत देख विचार करने लगी - हाय ! देवाङ्गनाओं को भी लज्जित करने वाली मेरी पुत्री नाग सरीखे पुरूष को सौंप दी गई। हे भगवान ! यह क्या हुआ? नागदत्ता ने मां की शोकावस्था का कारण पुछा - मां ने कहा बेटी तूझे नाग सरीखे देहधारी पुरूष को सौंपा गया यही मेरे दु:ख का कारण है। हाय ! तू जीवन भर के लिये दाम्पत्य सुख से वंचित हो गई।

नागदत्ता ने कहा - माता ! तू क्यों व्यर्थ शोक करती है। मेरे पति वास्तव में नाग नहीं वे तो सुन्दर देहधारी दिव्य पुरूष हैं। मेरे शयन कक्ष में एक संदूक रखा है। उसमें ही मेरे पति सूर्योदय से सुर्यास्त तक वंद रहते हैं। संध्या होते ही वे सुन्दर मनुष्य के रूप में आ जाते हैं यह सुन सागरदत्ता ने कहा - पुत्री तेरी बात तभी मानूंगी जबकि तूं मूझे यह घटना प्रत्यक्ष दिखा दे। एक दिन संध्या काल में नागदत्ता ने वह संदूक अपनी मां को सौंप दिया और स्वयं नागदत्त के साथ विलासताओं में लीन हो गई। यह अचंभा देख समुद्रदत्ता ने उस संदूक में आग लगा दी। तब से नागदत्त पुरूष के रूप में ही रहने लगा।

इस प्रकार न्याय पूर्ण रोचक कथा कहने के उपरांत रानी ने कहा - हे स्वामिन् ! यही सोच मैंने भी मंडप में आग लगाई थी कि ऐसे महाज्ञानी ध्यानी तपस्वी क्या पुन: इस अपवित्र देह में लौटकर आयेंगे? अर्थात नहीं, वे अब पुन: संसार के दु:खों को प्राप्त ना हो। यही सोच मैंने ऐसा किया था। अब आप ही कहें कि मैंने उचित किया या अनुचित? किन्तु ऐसा करने से तो उनका कपट जाल ही प्रगट हो गया। महारानी चेलना की न्यायपूर्ण वार्ता सुन महाराज चुप हो गये। वे कुछ उत्तर भी नहीं दे सके।

देखिए। झूठ छिपाने से छिपता नहीं है अज्ञानता वश हम व्यर्थ में उसे छिपाने का प्रयास करते हैं। देखो आग के छोटे से भी अंगारे को रूई में छिपा देने से कब तक वह छिपा रह सकता है ? रूई (कपास) जलने से धुआं प्रकट हो ही जाता है। यदि ऐसा है तो फिर हम क्यों उसे छिपाएं। एक तो झूठ पाप है, अंगार है फिर उसे छल रूपी रूई से क्यों छिपाएं? उसे माया कषाय से क्यों महापाप बनाएं?

अत: हमें चाहिए कि कभी भी झूठ न बोलें और यदि वह संभव न हो तो कम से कम उसे छिपाएं न । क्योंकि झूठ को छिपाने से झूठ कभी छिपता नहीं और अधिक मजबूत होता जाता है। और वह भयंकर आपत्तियों को खड़ाकर देता है।

.....

११. इतना अन्याय

महाराज श्रेणिक को अपने गुरूओं के पराभव का सबसे बड़ा दुःख था। किन्तु साधुओं की अस्थिरता, झूठे प्रलाप ने नमक का कार्य किया था। यद्यपि श्रेणिक अपनी गलतियों को समझ गये थे। फिर भी साम्प्रदाय के मद ने उनके नेत्र बंद कर दिये थे। वे बदला (प्रतिशोध करने) लेने की तलाश में थे। दिन-रात इसी चिन्ता में रहते थे। "रे मान्! तुझे धिक्कार हो, तू सत्य पर भी प्राणी की दृष्टि को आवरणित कर देता है और अपनी मान की पुष्टि से बड़े से बड़े पाप करने को तैयार हो जात है।" राजा श्रेणिक की भी यही मनोदशा थी। कालक्रम से उन्हें भी गुरूओं के अपमान का बदला लेने का अवसर प्राप्त हो गया। एक दिन वे शिकार खेलने हेतु वन में गये थें उनके साथ अनेक अंगरक्षक तथा सैन्य दल भी था। गहन वन में दौड़ धूप करते हुए उन्हें एक जगह प्रशांत मुद्राधारी परम निप्पृही जैन संत यशोधर मुनि दिखे। ऐसे गहन वन में और इतनी भीषण धूपमें उन्हें खड़े हुए ध्यान मग्न दिगम्वंर मुनि को देख राजा को बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने अपने जीवन में प्रथम बार ध्यान मग्न दिगम्बर मुनि देखा था। उन्होंने अनुचरों से उक्त साधु के विषय में पूछा। दम्भी अनुचर ने उत्तेजित भाषा में अश्लील वचनों का प्रयोग कर कहा - हे पृथ्वीनाथ ! यह वही महारानी चेलना का गुरू है जिसके वाग्जाल से महारानी जैन बनी हैं। "वचनों में जहर तथा अमृत दोनों होता है किन्तु वह प्रवक्ता पर निर्भय है कि वह उससे जहर वर्षाये या अमृत।" महाराज श्रेणिक के अन्दर प्रथम तो पूर्व से ही विद्धेषग्नि भड़क रही थी किन्तु अनुचरों के वचनों ने और उसमें घी का काम किया। "गिरते हुए को यदि हम थाम ना सकें तो कम से कम ढकेलना तो नहीं चाहिए।" किन्तु विद्धेपियों को इतना विवेक कहां। धार्मिक असहिप्णूता से महाराज

की क्रोधाग्नि और अधिक भड़क उठी उन्होंने शीघ्र ही पांच सौ शिकारी कुत्ते उन पर दौड़ा दिए। किन्तु मुनिराज के समतामयी वातावरण से प्रभावित हो उनकी प्रदक्षिणा लगाकर वे कुत्ते शांतभाव से ऐसे बैठे गए मानों वे अपने स्वामी के निकट बैठे हों। "समताशील प्राणी के शरीर से समतामयी ऊर्जा निकलती है और वह अपनी सीमा में आये हुए जन्मजात बैरी के भी बैर को समता में परिवर्तित कर देती है। फिर तो वे कुत्ते ही थे।" कुत्तों को इस प्रकार देख महाराज अधिक क्रोधित हुए। उन्होंने समझा कि किसी विद्या बल से इस योगी ने ही मेरे कुत्ते कीलित किए है। अब की बार उन्होंने क्रोधावेश में मारने हेतु म्यान से तलवार निकाल ली। इस क्रूरतम भावना से श्रेणिक ने सातवें नरक की आयु का बंध कर लिया। नंगी तलवार लेकर उन्हें मारने हेतु दौड़ा जरूर, किन्तु अंत में उसकी वार करने की हिम्मत नहीं हुई। उसी समय उसे सामने से फण उठाये आता हुआ एकसर्प दिखा, और उसका ही वध कर दिया तथा उसका कलेवर मुनिराज के गले में डाल दिया। फिर भी मुनिराज उस उपसर्ग को शांत भाव से सहन करते रहे।

देखिए ! अन्यायी की क्रुरता जिसके कारण प्राणी का सारा विवेक शून्य हो जाता है। वह निर्दोषी तथा धर्मात्मा तक भी नहीं छोड़ता। वह किसी के सत्य को भी नहीं देखता, किन्तु वह ऐसा कब तक कर सकता है? पाप का घड़ा भर जाने पर स्वयं ही फल नजर आने लगता है और तभी उसकी दृष्टि खुलती है। फिर वह कराहता है, रोता है, चिल्लाता है, किन्तु कोई भी उसकी नहीं सुनता।

अत: हे भव्यों ! ध्यान रखना चाहिए कभी भी किसी के साथ अन्याय, असहिष्णुता एवं अत्याचार नहीं करना चाहिए। यदि करते हो तो उसके भविष्य को देखना चाहिए कि जिससे अविलम्ब छुटकारा मिल सके।

*****

१२. हार्दिक धर्म स्नेह

स्वर्ण की परीक्षा कसौटी पर कसने से होती है। जब सोना कसौटी पर खरा उतरता है तब ही समझा जाता है कि यह स्वर्ण है तादृश ही धर्म साधना है। धर्म साधना की परीक्षा भी कष्टों और संकटों में होती है। कष्टों और संकटों से न घबड़ाते हुये समता पूर्ण धर्म साधना में संलग्न साधक ही सच्चा साधक है और ऐसे धर्मात्मा ही पूज्य तथा आराधनीय हैं।

किसी राजसी कार्य में व्यस्त होने के कारण, महाराज श्रेणिक महारानी चेलना से नहीं मिल सके। चौथे दिन उन्होंने यशोधर मुनिराज पर किये कृत्य की सारी वार्ता आद्योपान्त सुनाई। मुनिराज पर किये गये घोर कृत्य की वार्ता सुनते ही रानी के दु:ख का पार नहीं रहा, उनकी आंखों से अश्रुधारा बह निकली और वे चीखमार कर धड़ाम से पृथ्वी पर गिर पड़ी और कुछ समय पश्चात् मूर्छा दूर होते ही रानी क्रंदन करने लगी। रानी के करूण क्रंदन से सारा रनवास रो पड़ा, सारे धार्मिक जनों में धर्म संकट का हाहा:कार छा गया। धर्मात्मा के ऊपर आये हुये कष्टों को कौन सा ऐसा धर्म श्रद्धालु होगा जो शांति से सुनता तथा देखता रहेगा।

रानी ने विलाप करते हुये कहा – महाराज ! यह आपने अच्छा नहीं किया। मुनि धर्म की मूर्ति हैं ! उन्हें किंचित भी कष्ट देना नरक की घोर वेदना को आमन्त्रित करना है। जब उनकी निंदा या उपहास करने मात्र का परिणाम नरक लोक की तीक्ष्ण वेदना है तो मारने का परिणाम क्या होगा? यह आपको मालूम नहीं। ठीक है कृत कर्म का परिणाम (फल) उस समय तो नहीं दिखता किन्तु कालांतर में समय आने पर ही मालूम होता है। हे प्राणनाथ ! आप अभी चलें और उपसर्ग को दूर कर अपने कृत्य की क्षमा याचना करें यही दु:खों से छूटने का एक मात्र उपाय है। ''क्षमा से कृत कर्म का फल आधा हो जाता है और प्रायश्चित से वह पूर्ण धुल जाता है।'' अत: विलम्ब मत करो शीघ्र ही चलो इत्यादि।

रानी की प्रार्थना सुन महाराज श्रेणिक ने कहा – हे प्रिये ! विश्वास करो अवश्य ही वह मुनिराज सर्प निकालकर भाग गये होगें । व्यर्थ में विलाप मत करो, विलाप से शरीर कृश हो जाता है, रानी ने बीच टोकते हुए कहा – नहीं महाराज ! नहीं ! ऐसा कभी नहीं हो सकता । यदि वे हमारे सच्चे गुरू होगें तो वे नहीं भागे होगें वे उसी अवस्था में स्थित होगें मेरे वचनों पर विश्वास रखें तथा शीघ्र की चल करके प्रत्यक्ष परीक्षा कर लें, महाराज ! चलिये शीघ्रता कीजिये यदि आप नहीं चलेंगे तो आप मेरे जीवन का अंत ही समझें । महारानी चेलना के अत्याग्रह से महाराज श्रेणिक महारानी चेलना को साथ ले शीघ्र ही घटना स्थल पर पहुंच गये ।

वहां पर उन्होंने मुनिराज को पूर्व की भांति देखा, तथा अपने द्वारा डाला गया सर्प भी गले में ज्यों का त्यों पड़ा देख उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा । सर्प के कारण उनके शरीर पर चींटिया लग गई तथा गहरे जख्म बन गये थे । फिर भी मुनिराज प्रशांत की मुद्रा में निश्चल मुर्ति सदृश ध्यान मग्न बैठे थे । ''धन्य है मुनियों की परम वैरागी दशा, जो केवल देह का ही क्या प्राणों तक का भी मोह नहीं करते हैं ।'' महाराज श्रेणिक यशोधर मुनिराज की समतामयी मुद्रा को अपलक निहारते रहे ।

सच्चा आराधक अपने आराध्य के प्रति थोड़े से भी दु:ख को देख द्रवित हो उठता है तथा वह हर प्रयत्न से उसे दूर करता है । देखिए ! महारानी चेलना की भक्ति । सच्चे आराधक को अपने आराध्य पर कितना अटूट विश्वास होता है कि वह न देखे, न सुने किसी बातों में आकर विषयक सत्य को भी बड़ी सुदृढ़ता से प्रकट कर देता है । वह किसी की बातों पर विश्वास नहीं करता है अपितु अवसर आने पर वह स्वयं ही सत्य को प्रकट कर दिखा देता है कि आराध्य हमारे ऐसे होते हैं ।

अत: हमें चाहिये कि हम भी महारानी चेलना के सदृश स्वयं अपनी भी सुदृढ़ आस्था, हार्दिक, वात्सल्य एवं विवेकपूर्ण भक्ति का जागृत करें ।

*****

१३. समता-दर्शन

महारानी चेलना ने उनके गले से सर्प निकाला तथा चींटियों को भी बड़ी सावधानी से दूर किया।

मुनिराज ने उपसर्ग दूर होते ही अपना ध्यान विसर्जन किया। महारानी चेलना ने तथा महाराज श्रेणिक ने भी उन्हें विनयपूर्वक नमस्कार किया। मुनिराज ने दोनों को समान आशीर्वाद दिया। यह देख राजा को पुन: सर्वाधिक आश्चर्य हुआ। उसके जीवन में अब दिगम्बर मुनियों के प्रति हार्दिक श्रद्धा जाग उठी थी। वह मन ही मन अपने कृत्यों की बार-बार निंदा करने लगे। उनकी आंखो से अश्रु बह रह थे। वह सोच रहे थे कि आखिर में हमारे कृत्य का प्रायश्चित क्या होगा? प्राण न्यौछावार तक भी इसमें कम हैं। अत: हमें अपने प्राणों की आहुति दे ही देना चाहिये। यहीं इस कृत्य का न्यायोचित दण्ड है। राजा इस प्रकार का विचार कर ही रहे थे कि मुनिराज यशोधर ने बीच में टोकते हुए कहा – राजन्! तुम क्या विचार कर रहे हो? ''कपड़ा गन्दा हो जाने पर फेंका नहीं जाता अपितु धोकर साफ किया जाता है। उसी प्रकार प्राणी से कोई दोष होने पर प्राणों का हनन नहीं किया जाता है।''

राजन्! आप अपने कृत्य का प्रायश्चित आत्मघात से पूर्ण करना चाहते हो, किन्तु यह सबसे बड़ी भूल है। प्राणघात के समान कोई दूसरा महापाप नहीं है। गलती का प्रायश्चित्त गलती को पुन: स्थान न देने से ही हो जाता है। मुनिराज के वचन सुनते ही श्रेणिक को बड़ा आश्चर्य हुआ वह मन ही मन सोचने लगा अरे! इन्होंने हमारे मन की बात कैसे जान ली

अवश्य ही इनके अलौकिक ज्ञान है। होना ही चाहिये, क्योंकि तपस्या पूर्णत: खरी है। देखो इन्होंने मुझ जैसे अधम मारने वाले तक को कल्याणकारी आशीर्वाद दिया। धन्य है इनकी साधना! वास्तव में ये ही सच्चे साधु हैं। अब मैं इन्हें अपना सच्चा गुरू मानूंगा।

"ठीक ही है कसौटी पर खरा उतरने वाले स्वर्ण को कौन नहीं स्वर्ण मानेगा, अपितु सभी स्वर्ण ही मानते हैं उसी प्रकार सत्य परीक्षा में उत्तीर्णता प्राप्त करने वाले को कौन नहीं स्वीकारेगा अर्थात उसे सभी ही स्वीकारते है।"

देखिये ! कष्टों में समता धारण करने का परिणाम जिससे शत्रु भी मित्र बन जाते है। उनकी जितनी विद्वेषिता एवं शत्रुता होती है वह उतनी ही सेवा में और भक्ति में परिवर्तित हो जाती है। राजा श्रेणिक मुनिराज की समता एवं साधना को देख पूर्णत: उनके चरणों में समर्पित हो गया। धन्य है मुनिराज की समता, जिससे राजा की सच्चे देव, शास्त्र एवं गुरू पर अनन्य भक्ति जागृत हुई।

अत: हम सभी को चाहिये कि धर्म साधना में कभी भी कितना भी उपसर्ग या कष्ट क्यों न आ जाए तो भी हम उससे ना घबड़ाये। हम अपनी साधना में सदा अडिग रहें। यही हमें उक्त कहानी से शिक्षा मिलती है।

*****

१४. बिना विचार का फल

मुनिराज से अपने दुष्कृत्य की क्षमा मांगने के पश्चात् राजा श्रेणिक ने यशोधर मुनिराज से परम हितकारी धर्मोपदेश सुना, पश्चात् उनकी ज्ञान गरिमा को जानने हेतु अपने पूर्वभव के विषय में पूछा। यशोधर मुनिराज अवधिज्ञानी थे। उन्होंने अवधिज्ञान के बल से राजा के पूर्वभव को आद्योपान्त जानकर निम्नानुसार बताया -

राजन ! जम्बूद्वीप के आर्यखण्ड में सूर्यकांत नामक एक देश है। उसमें कुक्कट सांपत्य (सुरपुर) नामक नगर है, वहां के राजा का नाम मित्र था। रानी का नाम श्रीमति था। उनके सुमित्र नाम का एक पुत्र था। मित्र के मंत्री का नाम मतिसागर था। मतिसागर की पत्नी का नाम रूपिणी था। उसके भी सुषेण नामक एक पुत्र था।

राजपुत्र सुमित्र बड़ा स्वाभिमानी था। उसका स्वभाव कुछ उग्र था। वह मंत्री पुत्र सुषेण को सदा सताया करता था।

राजा मित्र की मृत्यु के पश्चात् राजपुत्र सुमित्र वहां का राजा हुआ। सुमित्र का राजा होना सुषेण के लिए रुचिकर न था। वह सोचता था एक तो सुमित्र पूर्व से ही ईर्ष्यालु हठी, दुरभिमानी था, अब वह राजा हो गया। निश्चित ही वह अब मेरे साथ दुर्व्यवहार करेगा। इत्यादि विचार कर सुषेण ने निर्ग्रंथ दीक्षा ले ली और वे मुनि हो गये और कठोर तपस्या करने लगे।

कालांतर में राजा सुमित्र को अपने बालसखा सुषेण के दीक्षित होने का समाचार मिला। समाचार सुनते ही उन्हें बड़ा दु:ख हुआ। एक दिन सुरपुर में सुषेण मुनि का आगमन हुआ। समाचार सुनते ही राजा सुमित्र बड़े प्रसन्न हुये। उन्होंने मुनिराज के दर्शनार्थ चलने की सारे नगर में घोषणा करा दी। धूम-धाम से सभी मुनिराज के निकट पहुंचे। राजा सुमित्र के साथ सभी ने मुनीराज की बड़ी भक्ति से तीन प्रदक्षिणा लगा कर नमस्कार किया एवं उनकी अर्चना की। ''हार्दिक धर्मानुरागियों में पूज्य के प्रति विनय एवं भक्ति

की स्वाभाविक धारा उमड़ती ही है, जिसका वेग रोकने से रूकता नहीं।" दर्शन भक्ति के पश्चात् सभी ने मुनिराज का धर्मोपदेश सुना तथा योग्य व्रत संयम ग्रहण कर अपने नगर की और लौट आये।

सुषेण मुनिराज की बाल्य मित्रता के सभी दृश्य राजा सुमित्र के नेत्र पट्ल पर एक एक करके क्रमश: झलकने लगे। उनके अंदर सुषेण मुनिराज के प्रति अपार स्नेह जागृत हुआ । उन्होंने विचार किया कि कुछ भी हो कल मुनिराज सुषेण का आहार मेरे यहां ही होना चाहिये और नगर में घोषणा कर दी कि महामुनि सुषेण का कल कोई अन्य श्रावक नहीं पड़गायेगा। एक माह के उपवास के पश्चात् मूनिराज आहार हेतु नगर में आये। किन्तु राजाज्ञा के भय से उन्हें अन्य कोई श्रावकों ने नहीं पड़गाहा। तत्पश्चात् वे राजमहल की ओर बढे, किन्तु वहां पर भी राजा सुमित्र किसी शत्रु सैन्य के द्वारा आक्रमण कर समाचार सुनने में दत्त-चित्त थे। अत: सुषेण मुनि प्रबल अंतराय कर्म का उदय जान समता भाव से वन की और लौट गये और पुन: एक माह के उपवास की प्रतिज्ञा धारण कर ली एक माह पश्चात् जब वे पुन: नगर में आये तो एक मदोन्मत हाथी सारे नगर में आतंक मचा रहा था, राजा सुमित्र उसके निवारण में संलग्न था। अत: उस समय भी उन्होंने अंतराय समझ पुन: एक माह उपवास की भीषण प्रतिज्ञा ले निराहार वन की ओर लौट गये। समय पूर्ण होने पर पुन: वे तीसरी बार आहारार्थ नगर में आये। किन्तु अबकी बार नगर में भीषण अग्निकांड हो जाने के कारण राजा को उन्हें पड़गाहने का ध्यान नहीं रहा। "कर्म की भी विचित्र दशा है उसने बड़े-बड़े तपस्वियों को भी नहीं छोड़ा, पुरूषार्थ की तत्क्षण सफलता तभी मिलती है जब कर्म का मंद उदय हो तीव्रोदय में नहीं।"

चार माह के उपवास के कारण मुनिराज सुषेण का शरीर एकदम क्षीण हो गया था। किन्तु राजा के भय से कुछ भी नहीं कह पा रहें थे। वास्तव में उनकी आंखों में न नींद थी और न भूख। उनके ऊपर एक बड़ा धर्म संकट था। मुनिराज को नगर लौटता देख अब धर्मप्रिय लोगों से नहीं

रहा गया वे आपस में चर्चा करने लगे कि कितना दुष्ट राजा है, मुनिराज को न तो स्वयं आहार-देता है और न हम लोगों को देने देता हैं। श्रावकों की उक्तवार्ता मुनिराज ने सुन ली वे विचार करने लगे कि राजा सुमित्र अनाचारी है। अभी तक उसकी प्रकृति में कोई परिवर्तन नहीं आया। राजा के दुर्व्यवहार पर वे बड़े क्रोधित हुये। उसी समय पत्थर की ठोकर लगने से मुनिराज की मृत्यु हो गयी। अशुभ निदान बंध वश वे व्यंतर हुये। एक क्षण के अविचार के फल ने जीवन भर की कठोर साधना को निष्फल कर दिया।

सुषेण मुनिराज की मृत्यु का समाचार सुन सुमित्र राजा को बड़ा दुःख हुआ। उसने उनके वियोग में परिव्राजक सन्यास ले लिया और कुतप कर मृत्यु के पश्चात् वह व्यंतर हुआ। हे राजन ! वही सुमित्र राजा का जीव तू श्रेणिक के रूप में हैं और सुषेण मुनि का जीव महारानी चेलना के गर्भ से कुणिक नामक पुत्र होगा। पूर्वभव की कथा सुनकर राजा श्रेणिक को जाति स्मरण हो गया। उन्हें मुनिराज यशोधर द्वारा कथित अपना पूर्वभव प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने लगा। इससे उनकी जैन धर्म में दृढ़ आस्था हो गयी।

देखिये ! क्षण भर में किया विचार का फल कितना अहितकारी होता है। संसार में जितना भी दुःख या असफलतायें है वह सब बिना विचार किये गये कार्य का ही फल हैं। यदि प्राणी सदा पूर्वापार आगे पीछे विचार कर कोई भी कार्य करे तो उसे भी असफलता पूर्ण दुःख का मुंह नहीं देखना पड़ेगा।

अतः हमे चाहिये कि हम कोई भी कार्य करें तो उसे पूर्वविचार कर ही करें कि हम जो कार्य कर रहे है वह उचित है या नहीं। हम इसमें समर्थ हो सकते हैं या नहीं। इस कार्य करने में हमें कितनी स्थिरता, कुशलता, सावधानी एवं आवश्यक सामग्री की आवश्यकता है इत्यादि विचार पूर्वक ही हमें हर कार्य करना चाहिए।

१५. सत्य की खोज एवं परीक्षा

यशोधर मुनिराज के धर्मोपदेश से महाराज श्रेणिक पर जैन धर्म का गहरा प्रभाव पड़ा। उसी दिन से उन्हों ने जैनधर्म धारण कर लिया और अपनी सारी जीवन चर्या भी जैन धर्मानुसार बना ली। '' जैनधर्म यह किसी विशेष का धर्म नही है अपितु यह तो प्राणी मात्र का प्राकृतिक धर्म है। जब कोई निष्पक्ष खोजी इसकी गूढ़ता को खोज कर सत्य की कसौटी पर कस लेता है फिर उसकी श्रध्दा उस पर अटल हो जाती है।''

कालांतर मे महाराज श्रेणिक के जैन धर्म ग्रहण करने का समाचार जब बौध्द भिक्षुओं को ज्ञात हुआ तब वे दुखी हुए। '' पंथ मोही का मोह मात्र अपने पंथ के प्रति ही होता है चाहे भले ही वह असत्य हो किंतु उसे समय यत्किंचित भी नही रूचता।'' बौध्द साधुओं ने अविलंब महाराज श्रेणिक के पास आकर कहा, महाराज !यह आपने क्या किया? नंगे साधु जो सदा मलीन रहते है जिन्हे कोई विशेष ज्ञान नही है फिर भी उनकी चिकनी चुपड़ी बातों मे आ गये। आपने बिना विचार ही जैन धर्म ग्रहण किया हैकिन्तु ध्यान रखो बाद मे तुम्हे पछताना होगा।अब भी सावधान हो जाओ, अभी भी अवसर है इत्यादि।

बौध्द साधुओं की फटकार से पुन: श्रेणिक का हदय प्रकंपित हुआ। उन्होने पुन: मुनियों की परीक्षा का षडयंत्र रचा । अपने महल के चौक (आंगन)में एक गड्ढ़ा करवाया और उस में हड्डी आदि भरकर उसपर फर्श जड़वा दिया। उन्हे इस बात की परीक्षा करनी थी कि वास्तव मे क्या जैन मुनि विशिष्ट ज्ञानी हैं या नही । यदि वे सच्चे ज्ञानी होंगे तो निश्चित इस रहस्य को जान जायेंगे और यहां आहार नही करेंगे।

महाराज श्रेणिक रानी चेलना के साथ चर्या के समय मुनिराज को पड़गाहने हेतु दरवाजे पर खड़े हो गये। राजा के कृत्य को महारानी चेलना समझ गई कि आज भी परीक्षा का दिन हैं। अवश्य ही दाल में कुछ काला हैं।

अत:पूर्ण विवेक के साथ सावधानी रखना जरूरी है। उसी समय एक एक करके तीन बार मुनियों का आगमन हुआ। महारानी चेलना ने प्रत्येक मुनिराज को यह कहकर पड़गाहा– हे त्रिगुप्ति के धारी मुनिराज(अत्र अत्र) आईये– आईये किन्तु वे सभी मुनिराज क्रमश: लौटते ही गये। क्योंकि वे तीन गुप्ति के धारी नहीं थे।

तत्पश्चात एक गुणसागर नामक मुनिराज अवधि ज्ञानी तथा तीन गुप्ति के धारी थे। उन्हे देखकर भी रानी ने त्रिगुप्ति शब्द दुबारा संबोधन किया ।गुणसागर मुनिराज पड़गाहे और जैसे ही चौक में पहुंचे तो उन्हे हड्डी आदि अपवित्र पदार्थो का ज्ञान हो गया । उन्हो ने अंतराय का अवसर जान अंजुली(मुद्रा)छोड़ दी और कहा हे राजन् ! यह अशुध्द स्थान है इसके नीचे हड्डी आदि गड़ी हैं । इस पर मुनियों को आहार करना निषिध्द है। इत्यादि कह वे वन की ओर चले गये ।इस से महाराज श्रेणिक को दिगंबर जैन धर्म पर तथा जैन मुनियों पर दृढ़ श्रध्दा हो गई । उन्हे बौध्द गुरूओं के वचन वाग्जाल सदृश लगने लगे।

देखिये ! असत्य को कितना भी सत्य सिद्ध करने का प्रयास कीजिये किन्तु वह कभी भी सत्य नहीं हो सकता तथा सत्य को कितना भी असत्य से ढकने का प्रयास कीजिये किन्तु वह कभी भी असत्य नहीं हो सकता। यह एक शाश्वत सिद्धांत है। असत्य को सत्य तथा सत्य को असत्य सिद्ध करने का भी तभी तक प्रयास चलता है जब तब कि अज्ञानता का आवरण हमारे ज्ञान पर छाया रहता है। पर जैसे ही परदा हटता है वैसे ही प्रकाश का तेज पुंज प्रकट हो जाता है। जिससे कि फिर हमारी पुरानी समस्त धारा का नि:सन एवं सत्य् धाराओं का विकास हो जाता है। यही सत्य की परीक्षा है।

अत: हम सभी को चाहिये कि हम कभी भी किसी की सत्य की खोज करें तो उसके पूर्व अपनी धारणाओं को एक तरफ निकाल करके रख देना चाहिये तभी हम उसके असली स्वरूप को पा सकेंगें। अन्यथा सत्य के दर्शन कठिन ही नहीं अपितु असंभव ही हैं।

*****

१६. सत्य के पुजारी - मुनिराज धर्मघोष

महाराज श्रेणिक ने अच्छी तरह परीक्षा कर जैनधर्म को धारण किया था। अतः जैनधर्म को पाकर वे बड़े प्रसन्न थे। तथा बार-बार अपने सौभाग्य को सराह रहे थे। उनकी दिगम्बर मुनिराजों पर दृढ़ आस्था हो गई थी। वे उनके अनन्य भक्त हो गये थे। उनके व्दार से तीन मुनिराज बिना आहार किये लौट गए थे उसका कारण ज्ञात करने हेतु वे महारानी चेलना सहित रथ पर सवार हो सर्वप्रथम धर्मघोष नामक मुनिराज के पास पहुंचे। श्रद्धा भक्ति से तीन प्रदक्षिणा लगाकर उन्होंने मुनिराज को नमस्कार किया और पूछा - हे स्वामिन्! बिना आहार किये राजमहल से लौटने का क्या कारण है? समझाने की कृपा करें। त्रुटि को मैं अवश्य सुधारूंगा। राजा श्रेणिक की जिज्ञासा पूर्ण प्रार्थना को सुन मुनिराज ने कहा - मुझे तीन गुप्ति नाम से संबोधा गया था। किन्तु मैं वचन एवं कार्य इन दो गुप्ति का धारी हूं। मनोगुप्ति मुझसे खण्डित हो चुकी है। हे राजन्! यही कारण है कि मैं राजमहल से आहारार्थ नहीं गया।

महाराज श्रेणिक ने मनोगुप्ति के खण्डन का कारण पूछा - मुनिराज धर्मघोष ने सत्य घटना सुनाना प्रारंभ किया - हे राजन्! जम्बूव्दीप के कलंग देश में दन्तपूर नामक एक नगर है वहां का मैं धर्मघोष नामक राजा था। मेरी पटरानी का नाम लक्ष्मीपती था। वह अत्यंत रूप लावण्यता की मूर्ति थी। उससे मेरा अत्यधिक प्रेम था। एक दिन जैन मुनि पवित्र धर्मोपदेश सुन मुझे वैराग्य हो गया। अतः मैंने जैनधर्म अंगीकार कर मुनि दीक्षा ले ली और धर्म साधना करता हुआ विहार करते-करते एक दिन कौशाम्बी नगर पहुंचा। वहां राज्यमंत्री गरूडवेग और उसकी धर्मपत्नी गरूड़दत्ता ने

मूझे भक्ति पूर्वक पड़गाहा और उनके यहां मेरा आहार हुआ। हे राजन् ! संयोग वश गरूड़दत्ता के हाथ एक चावल जमीन पर गिर जाने से मेरी दृष्टि रानी के पेर के अंगूठे पर पहुंची। उसे देखते ही मुझे मेरी पत्नी का स्मरण हो गया। मैं विचार करने लगा कि इस नारी का अंगुठा मेरी पत्नी सदृश है। ऐसा ही उसका अंगुठा था। मेरे आश्चर्य का कोई पार न रहा। मैं सहसा चौंक उठा। हे राजन् ! इस प्रकार मन के चलित हो जाने के कारण मुझे आज मनोगुप्ति की प्राप्ति नहीं हो सकी। यही उसके अभाव का कारण है।

मुनिराज धर्मघोष की निष्कपट सत्य बात को स्पष्ट रूप से सुनने से राजा श्रेणिक को बड़ा आश्चर्य हुआ। और वह कहने लगा कि धन्य हैं इनके सत्य व्रतों को जिन्होंने अपनी वास्तविक बात को सत्य रूप से स्पष्ट सुनाया अनेक प्रकार से स्तुति कर राजा श्रेणिक ने प्रस्थान किया।

देखिये ! मुनिराजों के सत्य महाव्रत को जो अपने उपहास आदि की भी परवाह ना कर जो वार्ता जैसी है उसे ज्यों की त्यों प्रकट करके भी अपने सत्य महाव्रत को नहीं छोड़ते। संसार एक झूठ की पुतली है, जिसमें प्राणी प्राय: असत्य की ओर दौड़ता जा रहा है। लोक लाज एवं लोकेषणा के इच्छुकों में सत्य नहीं होता। किन्तु सच्चे जैन मुनि उससे भी रिक्त रहते हैं। वे क्रोध, लोभ, भय, हास्य आदि से रहित होते हैं इसलिये वे तथा उनके वचन प्रमाणित हैं।

अत: हमको चाहिये कि हम भी उन मुनिराजों सदृश अपने वचनों को सत्यता से समाहित करें।

*****

१७. साहसी सत्यव्रती - मुनिराज जिनपाल

महारानी चेलना के साथ राजा श्रेणिक मुनिराज जिनपाल के पास पहुंचे। भक्ति पूर्वक उनकी तीन प्रदक्षिणा लगा कर और नमस्कार कर वे वहां बैठ गए। मुनिराज का ध्यान पूर्ण होते ही राजा श्रेणिक ने विनय पूर्वक निराहार लौटने का कारण पुछा। मुनिराज जिनपाल ने कहा - राजन् ! महारानी चेलना ने "त्रिगुप्तिधारी" कह कर संबोधा था। किन्तु मैं तो मनोगुप्ति एवं काय गुप्ति का ही धारी हूं वचन गुप्ति मेरी नष्ट हो चुकी है। इसी कारण मैं आहारार्थ राजमहल में नहीं रूका। राजा श्रेणिक ने मुनिराज से वचनगुप्ति के खण्डित हो जाने के कारण को जानना चाहा और पूछा। मुनिराज जिनपाल ने भी वचनगुप्ति के खण्डन होने के कारण को सांगोपांग कहना प्रारंभ किया -

हे राजन् ! भूमि तिलक नामक नगर के राजा का नाम वसुपाल था। धारणी उनकी रानी थी। उसके वसुकान्ता नामक पुत्री थी। पुत्री विवाह योग्य थी। उसे कौशाम्बी का राजा चण्डप्रद्योत चाहता था, किन्तु राजा वसुपाल उसे अपनी कन्या नहीं देना चाहते थे। जिससे कि क्रोधित हो एक दिन चण्डप्रद्योत ने अपनी विशाल सेना से भूमितिलक नगर को घेर लिया था। इधर राजा वसुपाल ने भी अपनी सेना को युद्ध स्थल की ओर भेज दिया था। दोनो सेनाओं में कई दिन तक घमासान युद्ध हुआ अनेक सैनिक उसमें मारे गये।

राजा चण्डप्रद्योत की अजेय सेना देख राजा वसुपाल उससे विजय पाने के उपाय में संलग्न था। संयोगवश युद्धस्थल के समीप वन में मेरा भी आगमन हुआ। मेरे आगमन का समाचार सुनते ही राजा वसुपाल अपने सामन्तों सहित तत्काल मेरे पास आया। सभी ने सहर्ष दर्शन किए। तत्पश्चात् सामंत ने शत्रुओं से निश्चित रहने का उपाय मूझसे पूछा - किन्तु इस प्रश्न का उत्तर देना मुनियों को उचित ना समझ मैं मौन रहा। किन्तु वहां

पर स्थित किसी जिन शासनी देवी अव्यक्त रूप में स्थित हो राजा को निर्भय रहने का आश्वासन दे दिया। यह सुन राजा ने मूझे ही आश्वासन देने वाला समझा और सहर्ष भक्ति वंदना कर राजमहल की ओर लौट गया। उधर जब चण्डप्रद्योत को उक्त समाचार का पता चला तो उसने भी उसी समय युद्ध समाप्त कर नगर की ओर प्रस्थान किया।

चण्डप्रद्योत के अकारा युद्ध स्थल से लौट जाने से महाराज वसुपाल को बड़ा विस्मय हुआ, उन्होंने इसका कारण खोजने हेतु कुशल मंत्री भेजे। मंत्रियों ने कौशाम्बी जाकर चण्डप्रद्योत की राज्य सभा में प्रवेश किया एवं उचित आदर सत्कार कर महाराज वसुपाल की जिज्ञासा प्रकट की। यह सुन राजा चण्डप्रद्योत ने कहा – हे मंत्रिगण ! आपके राजा अत्यंत धर्मात्मा है उनकी धर्म साधना सराहनीय है। ऐसे राजा से युद्ध करना उचित ना समझ ही मैंने उनसे युद्ध करने की इच्छा निरस्त कर दी।मंत्रियों ने आकर उक्त समाचार राजा वसुपाल को सुनाये। शुभ समाचार सुन महाराज वसुपाल के हर्ष पार नहीं रहा। उन्होंने सहर्ष वसुकान्ता का विवाह चण्डप्रद्योत के साथ कर दिया।

एक दिन वसुकान्ता के साथ राजा चण्डप्रद्योत बैठा था। उसके मन में एकाएक राजा वसुपाल से हुए युद्ध का स्मरण हो आया। उसने रानी वसुकान्ता से कहा – हे प्राणप्रिये ! संसार भर में मेरी सेना अजेय थी। भूमण्डल के सभी राजाओं ने मेरी शक्ति के सामने अपना मस्तक झुका दिया था। मैं अपने सामने तुम्हारे पिता को कुछ नहीं समझता था। मैंने युद्ध छेड़ कर बड़ी भूल की। इस बात की शल्य आज तक मेरे मन में ज्यों की त्यों विद्यमान है। इस बात को सुन वसुकान्ता ने कहा – हे प्राणनाथ ! वस्तुतः आपके प्रताप के समक्ष हमारे पिता नगण्य ही थे। किन्तु मुनिराज जिनपाल के आशीर्वाद के कारण ही आपके सदृश बली (बलवान) प्रतापी एवं दिग्विजय बने अन्यथा वे आपके सम्मुख कैसे टिक सकते थे। यह सुना राजा चण्डप्रद्योत को विस्मय हुआ। तथा मन ही मन सोचने लगा कि दिगम्बर मुनिराज किसी की जय एवं पराजय के विषय में कुछ भी विचार नहीं कर

सकते हैं तो फिर जिनपाल मुनिराज ने ऐसा कैसे सोचा होगा ऐसा विचारकर दोनों (चण्डप्रद्योत व वसुकान्ता) मेरे पास आए तथा प्रदक्षिणा, नमस्कार कर यथास्थान बैठ गए। तत्पश्चात् उन्होंने उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर मुझसे पूछा। किन्तु उत्तर देना उचित ना समझ मैं मौन ही रहा। तब वसुकान्ता बोली – हे प्राणनाथ! इसमें मुनिराज का लेशमात्र का भी दोष नहीं है। अपितु जिस समय मेरे पिता मुनिराज को नमस्कार कर रहे थे उसी समय उनके पुण्य प्रताप से किसी वनदेवी ने ही पूज्य अभय की घोषणा की थी। मैं इस बात को भूल गई थी इसिलिये आपसे नहीं बोल पाई। मुझे अभी ही उक्त वाक्य का स्मरण हुआ है। अत: आप मुझे क्षमा करें। वसुकान्ता के मुख से उक्त वार्ता सुन चण्डप्रद्योत मन ही मन सोचने लगा – धिक्कार है मुझे। व्यर्थ ही मैंने मुनिराज पर संदेह किया और पश्चाताप करता हुआ अपने नगर वापिस लौट आया। हे श्रेणिक! मैं सब कुछ जानकर भी मौन रहा इसी कारण से मेरे वचनगुप्ति खण्डित हो गयी।

मुनिराज वसुपाल के मुख से सत्य घटना सुना राजा श्रेणिक को बड़ा संतोष हुआ एवं उसकी आस्था और भी अधिक सुदृढ़ हो गयी।

देखिये। मुनिराजों की सत्य साधना वे अपने व्रतों में कितने सुदृढ़ एवं मजबूत रहते हैं। छल कपट से वे सदा दूर रहते हैं उन्हें ऐहिक लोकेष्णा की किंचित भी चाह नहीं होती है। यही कारण है कि अपनी हर बात को ज्यों की त्यों कहने में नहीं चूकते। अथवा उत्तर देना उचित ना हो तो वे मौन हो जाते हैं किन्तु किसी भी स्थिति में वे असत्य नहीं बोलते। ठीक ही है सत्यव्रत की रक्षा के दो ही उपाय है या तो ज्यों का त्यों बोल देना अथवा मौन रह जाना। उनका मौन रह जाना भी प्रामाणिकता ही सिद्ध कर देती है।

अत: हमको चाहिये कि हम भी साहसी सत्यव्रती बनें। कभी भी किसी भी हालत में असत्य ना बोले। यही कथा का सारांश है।

*****

१८. वैरागी मुनिराज मणिमाली

मुनिराज जिनपाल के गुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए राजा श्रेणिक का रथ मुनिराज मणिमाली की ओर बढ़ता चला जा रहा था। कुछ समय पश्चात् वे गन्तव्य स्थान पर पहुंच ही गये। राजा श्रेणिक और चेलना ने दूर से मुनिराज को देख लिया। उन्हें देखते ही वे दोनों बड़े प्रसन्न हुये और सहसा रथ से उतर दूर से ही नमस्कार कर वे मुनिराज के निकट गए। मुनिराज की भक्ति पूर्वक तीन प्रदक्षिणा लगाकर और नमस्कार कर पृथ्वी पर बैठ गये। मुनिराज ने "सद्धर्म वृद्धिरस्तु" कह प्रसन्नता से आशीर्वाद दिया।

मुनिराज की प्रसन्नता देख राजा ने उनसे राजमहल से निराहार लौटने के हेतुओं को जानने की जिज्ञासा प्रकट की। मुनिराज ने ललित स्वरों में कहना प्रारंभ किया – राजन् ! महारानी चेलना ने त्रिगुप्तिधारी मुनिराज का ही आह्वान किया था। किन्तु मैं तीन गुप्ति का धारी नहीं था। काय गुप्ति खण्डित हो जाने के कारण में मात्र दो गुप्ति का ही धारी रह गया। बस, इसी कारण से मैं राजमहल से निराहार लौट आया था। राजा ने कहा – हे प्रभो ! काय गुप्ति के खण्डित हो जाने का क्या कारण था? उसे जानने की मेरी तीव्र इच्छा हैं उसे सुनाने की कृपा करें। राजा की तीव्र उत्कण्ठा देख मुनिराज ने अपनी आत्म कथा सुनाना प्रारंभ किया।

राजन् ! मणिवत देश के दास नगर का मैं मणिपाल नामक राजा था। गुणमाला मेरी रानी थी तथा उसका मणिशेखर नामक पुत्र था। एक दिन रानी गुणमाला मेरे शीश पर अपना कोमल हाथ फेर रही थी उसी समय उसे एक सफेद बाल दिखा। उसने चौंककर कहा – अहा ! जिस यमराज से बड़े-बड़े चक्रवर्ती नारायण तक नहीं बचे उसका रथ आज यहां भी आ गया। यह शब्द सुनकर मेरी प्रसन्नता विलीन हो गई। मैंने सहसा पूछा कि – हे प्राणप्रिये ! वह काल का दूत कहां है ? तत्काल मुझे दिखलाओ। यह सुन उसने एा सफेद बाल को नोंचकर मेरी हथेली पर रख दिया। देखते ही उसे मैंने वार्धक्या का संदेशवाहक एवं काल का दूत समझा और मन ही मन सोचने लगा – अरे अब मेरे जीवन का अंत निकट है। अवश्य ही मुझे अब भोगमय संसार का

त्याग कर धर्माराधना में लग जाना चाहिए। जिस राज्य सम्पदा, भोगविलास एवं कुटुम्ब परिवार के लिए मैं बड़े से बड़े पाप करने के लिए तैयार हो जाता था, जिसकी पूर्ति में मैं अपने प्राणों तक की परवाह नहीं करता था। उनसे अब मन अकुला उठा और कृत पापों को धोने हेतु मन व्याकुलित हो उठा। राज्य में विभिन्न पाप कार्य अनायास ही होते रहते हैं। किन्तु कुशल राजा उन्हें धोने हेतु अपनी सामर्थ्य को देखता हैं इसके पश्चात् ही उक्त कार्य करता है। यदि अपनी शक्ति को नहीं देखते हैं राज्य कार्य में विलीन अपनी आयु राज्य में ही पूर्ण करता है, निश्चित ही वह नर्कगामी हो जाता है। क्योंकि कहा है कि जो **''राजेश्वरी सो नरकेश्वरी एवं जो योगेश्वरी सो स्वर्गेश्वरी''** अत: राजा को उचित है कि तब तक ही राज्य करे जब तक की आयु की अंतबेला नहीं आई अर्थात् वृद्धावस्था नहीं आयी हो। वृद्धावस्था आने के पूर्व ही उसे राज्य का त्याग कर संयम ग्रहण कर विभिन्न प्रकार के व्रत नियम आदि से कृत पापों को धो लेना चाहिये। इत्यादि विचार कर मैंने अपने पुत्र मणिशेखर को राज्य सौंप गुणसागर मुनिराज के चरण सानिध्य में परम पुनीत दिगम्बरी दीक्षा धारण कर ली और जैन सिद्धान्त का गहन अध्ययन कर दुर्द्धर तप करने लगा। मुनिराज मणिमाली के मुख से उक्त वार्ता सुन राजा श्रेणिक को भी बड़ा वैराग्य जगा। उनके परिणाम बड़े निर्मल हो गये, तथा राज्य से भी उनकी बड़ी विरक्ति जागी।

देखिये! सम्यग्ज्ञानी की सत्य पहिचान कि वह राज्य आदि सांसारिक समस्त कार्य करते हुए भी अपने अंतिम लक्ष्य को बराबर ध्यान रखता है। गृहस्थ तथा आयु के पूर्व उन्हें धोने का पूर्ण अवसर भी खोज लेता है और निश्चित ही वह अपनी जीवन अवसान के पूर्व उन्हें धो देता है। भावना भाने की यही सत्य परीक्षा है कि आयु अवसान के पूर्व अपने लक्ष्य में सफल हो जाना। जो जीवन भर तक भी भावना भाता रहता है किन्तु अन्त में यदि निष्फल हो जाता है तो निश्चित ही समझो उसकी भावना में अवश्य ही कहीं न कहीं कमी है।

अत: हमें भी चाहिये कि हम भी मुनिश्री मणिमाली सदृश अपनी ऐसी पवित्र एवं निर्मल भावना बनाएं जिससे जीवनान्त के पूर्व ही किए गए समस्त पापों को धोकर विशुद्ध बन सकें। यही उक्त कथन का सारांश है।

*****

१९. उपसर्गजयी - मुनिराज मणिमाली

जैन मुनियों की निर्दोष चर्या को देखकर राजा श्रेणिक चकित था। वह प्रतिक्षण विचारों में तल्लीन था कि इतने दीर्घ तपस्वी मुनिराज को अखिर काय गुप्ति क्यों नहीं हो सकी, जिसके कारण उन्हें निराहार राजमहल से वापिस आना पड़ा। राजा को विचार की मुद्रा में तल्लीन देख मणिमाली मुनिराज ने निस्तब्धता भंग करते हुये कहा – राजन्! तुम ध्यान से सुनो, मैंने काय गुप्ति न होने का कारण प्रकट करता हूँ।

मैं एक दिन विहार करता हुआ उज्जयनी नगरी पहुँचा। उस समय संध्याकाल हो चुका था अत: मैं सीधा वहां के श्मशान में पहुंचा तथा वहां शवासन (मुर्दे के समान लेटकर) रात्री योग धारण कर ध्यानस्थ हो गया।

उसी स्थान पर अर्द्धरात्रि के लगभग एक कापालिक (मंत्र साधक) मंत्र सिद्धी हेतु वहां आया। उसने मुझे मुर्दा समझकर मेरे सिर पर एक चूल्हा रखा तथा उसमें अग्नि प्रज्वलित कर एक अन्य मृत मनुष्य की खोपड़ी में खीर पकाने लगा। शीघ्र मंत्र सिद्ध करने की लालसा में मंत्रवादी अग्नि को तेजी से जला रहा था और मेरा मस्तिष्क उसमें झुलसता जा रहा था उस समय मैं अपने असाता कर्मों का तीव्र उदय समझ वैराग्य भावना का चिंतन करता हुआ समता भाव से उस उपसर्ग को सहन कर रहा था ।धीरि–धीरि मैं अचेत हो गया और मेरी स्मरण शक्ति जाती रही ।

धन्य है मुनियों की साधना वे धर्म हेतु अपने प्राणों की यत्किंचित भी परवाह नही करते और महान से महान उपसर्गों को भी समतामयी प्रसन्नता से हंसते–हंसते जीत लेते हैं।''

राजन्! अग्नि की तीव्र ज्वाला से मेरे सिर की नसें खींच गयीं जिससे उसकी खीर का बर्तन गिर पड़ा और खीर मिट्टी में मिल गयी। कापालिक ने ज्योंही यह दृश्य देखा त्यों मारे भय के उसके होश उड़ गये। उसने समझा मंत्र विद्या मुझ पर कुपित हो गयी है अत: वहाँ से भाग गया। प्रात:काल फल तोड़ने एक माली स्मशान मे आया। उसने ज्योंही मुझे अर्ध्ददग्ध मस्तक युक्त देखा उसके आश्चर्य का पार न रहा उसने शीघ्र ही नगरी में पहुंच कर वहां जिनदत्त आदि धर्मात्मा सेठों से घटना कह दी। माली के मुखसे उक्त समाचार

सुन सेठों के दु:ख का पार नही रहा। वे आकुलित हो शीघ्र ही श्मशानभूमि में आ गये। '' भक्ति का अर्थ यही हैं कि हमारे आराध्य पर यदि कोई कष्ट आये तो हम स्वयं पर ही समझकर शीघ्रतिशीघ्रउससे निवृति का प्रयास करना''। मुझे प्रणामादि कर सभी ने मेरे अर्ध्ददग्ध मस्तक को देखा और बड़े दु:खी हुये। सेठ जिनदत्त कीआंखों मे आसूँ भर आये,उन्होनेमुझे उठाते हुये करूण स्वर मे कहाकि दुष्ट ने यह पाप किया, आखिर भविष्य में उसकी क्या दशा होगी इत्यादि।धर्मात्त्मा के सच्चे अनूराग की परीक्षा हमेशा कष्टों मे होती हैं। वह अन्य धर्मात्माओं का कष्ट देख कितना विव्हल होता है यह बात पूर्णरूपेण जिनदत्त सेठ पर घट रही थी। बड़ी सावधानी से उठाकर वे मुझे अपने घर ले गंये। और मुनियों के लिये उचित स्थान पर ठहराकर किसी कुशल वैद्य से उनकी जांच करायी।वैद्य ने घाव गंभीर बतलाया तथा उसे भरने हेतु एक मात्र औषधी''लाक्षामूल'' तेल कहा सेठ जिनदत्त ने तेल प्राप्ती का स्थान का पता पूछा। वैद्य ने कहा इसी नगर मे एक सोमशर्मा नामक ब्राम्हण रहता है उसकी पत्नी यह तेल बनाती है। वहां से ही तेल प्राप्त हो सकता है। वैद्य की बात सुनकर तेल लाने हेतु जिनदत्त सेठ शीघ्र ही सोमशर्मा के गृह की ओर प्रस्थान कर गये।

देखिये! मुनिराज की समता और जिनदत्त सेठ की सच्ची गुरूभक्ति। जिनदत्त सेठ ने अपने हजारों अन्य कार्यो के होनेपर भी प्रमुख गुरूभक्ति ही समझी तथा अन्य नौकर चाकर आदि के होने पर भी उनसे उक्त कार्य न कराकर स्वयं ही करना श्रेष्ठ समझा। क्योंकि धर्म कार्य कराये नही जाते अपितु स्वयं किये जाते हैं। वे ही सच्चे मुनिभक्त है तथा धर्मात्मा हैं जो अपने मुनिराज या अन्य सभी साधर्मी पर आये हुये कष्टों को हर प्रयास से उसे दूर करते हैं। यह ही उसका सच्चा स्नेही हैं। क्योंकि ''न धर्मो धार्मिकैर्बिना'' अर्थात् धर्मात्मा के बिना धर्म नही होता ।

अत: हमे चाहिये कि कभी भी मुनिराजों या अन्य किसी धर्मात्माओं पर आये कष्टों को शीघ्र ही स्वयं ही हर प्रयास से उसे दूर करें ।

*****

२०. गुरूभक्त जिनदत्त और औषधदान

जिनदत्त सेठ गुरूभक्ति से प्रेरित हो मुनिराज के घाव शमनार्थ "लाक्षामूल" तेल लेने हेतु बड़ी शीघ्रतासे सोमशर्मा के घर पहुंचे। किन्तु वहा सोमशर्मा तो थे नही। एक मात्र उनकी पत्नी 'तुंकारी' थी। सेठ ने उससे कहा–हे भगिनी ! मै किसी कारणवश आपके यहां आया हूँ तुम अवश्य ही उसे पूरा करोगी। तूंकारी ने कहा पिताश्री ! आपके आने का क्या कारण है? कहो उसे मै अवश्य ही पूरा करूंगी ।सेठजी ने कहा – पुत्री ! किसी दुष्टात्मा ने मुनिराज मणिमाली का शीश अर्धदग्ध कर दिया है जिसकी असह्य वेदना से वे अचेत है।

वैद्यराज ने "लाक्षामूल तेल" से ही उसका इलाज बताया है । अत: वह तेल लेने मै आपके पास आया हूँ । आप उचित मूल्य लेकर उक्त तेल मुझे दे दीजिये।

तूंकारी ने कहा–सेठजी ! आप ये क्या कह रहे है? मुनिराज के उपचार के लिये मेरा सर्वस्व अर्पण है। आप जितना चाहे तेल मुझसे नि:शुल्क ले जाओ । तूंकारी के मुखसे गुरूभक्ति से ओत-प्रोत विनम्र शब्दों को सुन सेठजी बड़े प्रसन्न हुये।

"अपने आराध्य के विषय में समर्पित श्रेष्ठ वचनों को सुनकर कौन प्रसन्न नहीं होगा? अर्थात् हर प्राणी प्रसन्न होते हैं।" सेठ जिनदत्त ने तुंकारी के कमरे से तेल का एक घड़ा उठाया और कंधे पर रख थोड़े ही दूर चले थे कि कंधे से फिसल कर जमीन पर गिर पड़ा। घड़ा फूटते ही तेल चारों और बिखर गया। यह देख सेठ को बहुत दु:ख हुआ और वे पश्चाताप करते हुए पुन: तूंकारी के पास पहुंचे और घड़ा फूटने की सारी घटना उसे सुना दी। तूंकारी ने दूसरा घड़ा तेल ले जाने की स्वीकृति दे दी। किन्तु उसे भी लेकर जैसे ही

सेठ आगे बढ़े कि पैर फिसल जाने से गिर पड़े और घड़ा फूट गया।

अब सेठ का शरीर थर-थर कांपने लगा। किन्तु गुरूभक्तिवश जिनदत्त सेठ तूंकारी से पून: तेल की याचना की, किसी कारणवश वह घड़ा भी फूट गया। इस प्रकार क्रमश: छ: घड़े फूट गये। अंत में सेठ की दुख भरी प्रार्थना सुन तूंकारी ने कहा - हे सेठजी। आप दु:खी मत हों। मुनिराज के घाव शमनार्थ आप तेल का अन्य घड़ा भी ले जाऐं और शीघ्र उनका इलाज करें। क्योंकि मुनिराज धर्म की जीवन्त मूर्ति हैं। उन पर कष्ट सारे धर्म पर कष्ट है। अत: आप शीघ्र तेल ले जाकर उनका इलाज करें। सेठ जिनदत्त ने अबकी बार सातवें घड़े को उठाया और सकुशल घर आ गया। सेठ नें बड़ी कुशलता से उसे मुनिराज के सिर आदि पर लगा दिया। किन्तु सेठ के मन में अभी भी तूंकारी के छ: घड़े फूटने का पश्चाताप ज्यों का त्यों चलता रहा। वे सोच रहे थे कि तूंकारी के तेल भरे छ: घड़े फूट गये किन्तु उसे किंचित क्रोध नहीं आया। धन्य है उसके क्रोध विजयी गुण को।

देखिये ! औषधदान का अर्थ इतना मात्र नहीं है कि मुनि आदि के बीमार हो जाने पर औषध मात्र दे देना। अपितु प्रथम कर्तव्य तो यह है कि बीमार न हो पाएं। हां यदि कर्मोदय वश वे बीमार हो जायें तो औषधदान देना सार्थक है।

अत: हमें चाहिये कि हम मुनिराजों का पूर्व से ही इतना ध्यान रखें, ताकि वे कभी बीमार न हो पायें और यदि हो जायें तो उन्हें हर प्रयत्न से स्वस्थ करें।

*****

२१. तूंकारी का क्रोध

सेठ जिनदत्त के मन में ''तूंकारी के क्षमा गुण की रह रह कर याद आ रही थी। वे सोच रहे थे कि धन्य है उस महिला को जिसके अथक परिश्रम से तैयार किये गये तेल के छह घड़े फूट गये फिर भी उसके क्रोध की किंचित भी रेखा नहीं खिचीं। अतः चलकर उस साध्वी से इसका कारण पूछना चाहिये। सेठ जिनदत्त सोमशर्मा के घर पुनः पहुंचे। उन्होंने तूंकारी से कहा – हे भगिनी! मैंने आपके छह घड़े फोड़ दिये किन्तु फिर भी तुझे किंचित भी क्रोध क्यों नहीं आया? इसका क्या कारण है? तुम शीघ्र कहो? उसे जानने की मेरी विशेष जिज्ञासा है।

तूंकारी ने कहा – हे पिताश्री! क्रोध के फल मैं अच्छी तरह से भोग तथा उससे पूर्ण परिचित हो चुकी हूँ। बस क्रोध न आने का एकमात्र यही कारण है। यदि आप सविस्तर समझना चाहते हो तो सुनो, मैं इस विषय में अपनी आपबीती घटना सुनाती हूँ।

सेठ जी! इस पृथ्वी पर एक आनंद नामक नगर है उसमें शिवशर्मा नामक ऐ ब्राह्मण रहता था। उसकी पत्नी का नाम कमलश्री था। उसके आठ पुत्र तथा मद्रा नाम की एक मैं पुत्री थी। सभी का मुझ से बड़ा अनुराग था। मैं रूपवान एवं विभिन्न गुणों से सम्पन्न थी। किन्तु मुझमें एक सबसे बड़ा अवगुण था कि कोई भी मुझे ''तूंकारी'' नहीं कहा सकता था। मैं इस शब्द से सदा चिढ़ती थी। मेरे पिता ने एक बार उक्त वार्ता को राजदरबार में राजा से कही तथा प्रार्थना की कि हे राजन्! मेरी पुत्री ''तूंकारी'' शब्द से बहुत चिढ़ती है अतः नगर में आप ऐसी घोषणा करा दे की कोई उससे 'तूंकारी' न कहें। राजा ने उस समय मुझे राजसभा में बुलाकर 'तूंकारी' शब्द से चिढ़ने का कारण पूछा था। किन्तु मैंने समूचा उत्तर न दे एकमात्र यही कहा कि – हे राजन्! मैं तो आपसे यही निवेदन करती हूँ कि कोई उपद्रव हो जाये तो मुझे दोषी ठहराया जाये इत्यादि कह मैं अपने घर आयी। किन्तु बात फैल गयी और जन सामान्य तक ने मूझे ''तूंकारी'' कहना प्रारंभ कर दिया। तब से घर के अन्दर रहने लगी।

शुभवन में एक दिन गुणसागर मुनिराज का आगमन हुआ। राजा सहित अनेक प्रजाजनों ने जाकर उनके श्रद्धा भक्ति से दर्शन किये, तथा धर्मोपदेश सुना पश्चात् यथाशक्य व्रत धारण किये। शुभोदय से मैं भी वहाँ पहुंची एवं मैंने भी मुनिराज से व्रत धारण किये। किन्तु मैं क्रोध नहीं छोड़

सकी। अपने हठीले भाईयों के संसर्ग से मैं भी अधिक हठीली बन गयी थी। कोई भी मेरे साथ विवाह करने को तैयार नहीं था। एक दिन इसी नगरी का वासी सोमशर्मा नामक एक ब्राह्मण था। वह बड़ा जुआरी था। वह जुअे में सबकुछ हार गया था। ठीक ही है – 'हारा हुआ जुआरी दांव पर क्या नहीं लगा देता। परिणाम स्वरूप सोमशर्मा सबकुछ हार जाने पर भी कर्जे से जुआ खेलता गया। अंत वह उसे भी हार गया। अब अन्य जुआरियों ने उससे अपना ऋण मांगा किन्तु सोमशर्मा न दे सका। तब उन सबने सोमशर्मा को एक वृक्ष से बांध दिया और पीटना प्रारंभ कर दिया। संयोग वश उसी स्थान से मेरे पिताजी गुजरे उन्होंने उससे कहा – हे द्विज कुमार ! यदि तू मेरी कन्या से विवाह कर लो तो मैं सारा कर्ज चुकाकर तुझे बंधनों से मुक्त करा सकता हूँ। सोमशर्मा ने चौंककर कहा – आप ऐसा क्यों कर रहे हो ? हमारे पिता ने सारी बात स्पष्ट कह दी और कहा कि मेरी पुत्री से जीवनपर्यंत तक 'तूंकारी' नहीं कहना होंगा। सोमशर्मा ने भी मुझे रूपवती और गुणवती जान पिता की उक्त शर्त मंजूर कर ली। तब मेरे पिता ने उसका ऋण चुका दिया और उसे अपने घर ले आये। कुछ दिनों के पश्चात् उससे मेरी शादी हो गयी।

एक दिन किसी कार्यवश मेरे पति (सोमशर्मा) कहीं बाहर गये थे। लौटते समय मार्ग मे एक नाटक देखने लगे। जिस से घर आते आते अर्ध्दरात्री हो गयी। मैं विरह वेदना से बड़ी पीड़ित थी ,किन्तु स्वामी के न आने पर मैं क्षुभित हो अंदर लेट गयी । कुछ समय पश्चात् उन्हो ने आकर बहुत पुकार लगायी किन्तु मैने अपने हठिले स्वभाव वश दरवाजे नही खोले । अंत मे उन्हो भी क्रोधित हो मुझे 'तूंतारीं' कहकर पुकारा। इतना सुनते ही मै व्दार खोलकर वन की ओर घनघनाती सी सीधी चली गयी। मेरा शरीर भय एवं क्रोध से थर–थर कांप रहा था। उसी समय एक भील अचानक मेरे पास आया उसने मुझे पकड़कर अपने सरदार को सौप दिया।भील सरदार मेरे रूप लावण्यता पर मुग्ध हो गया। और विभिन्न प्रकार से मुझे संतुष्ट करना चाहा। अंत मे उसने मारने की धमकी दी और सहसा वह मुझ पर टूट पड़ा। ऐसी अवस्था मे रक्षा का अन्य उपाय न देख मैं पद्मासन हो जैनेन्द्र भक्ति मे लीन हो गयी। अंत मे जब उसकी सारी कुचेष्टा व्यर्थ हुई तब उसने मुझे अपने संग साथियों के हवाले कर दिया। उन लोगों ने मुझे मारा,घसीटा तथा लाठीयां मारमार कर लहू–लुहान कर दिया तथा मेरे वस्त्र फाड़ दिये।किन्तु मै अपने ध्यान में किंचित भी विचलित नही हुई । उसी समय वहां वनदेवी ने प्रकट होकर मेरे शील की रक्षा की। तथा मुझे अपने निवास पर ले गयी वहां

उसने मुझे एक रक्त रंजित वस्त्र दिया। और मेरे वालों को नोंचकरसिर के खून से अपने वस्त्र रंग कर तथा लाक्षामूल तेल से मेरे उन घावों को ठीक कर दिया करती थी ।

एक दिन भाग्योदय से मेरे भाई यवन देश के राजा परासर के यहां से लौट कर आ रहे थे। वे उज्जयनी नरेश के किसी कार्यवश वहा गये थे । योगायोग उनसे मेरी भेंट हो गई।मुझे देखते ही उनका हृदय गद्गद हो गया। उन्हो ने मुझे गले से लगा लिया और अपने साथ उज्जयनी ले गये और हम अपने मातापिता से मिले। उन्हे आपबीती सारी घटना सुनायी। जिसे सुन सभी कुछ समय तक अधीर हो शोकाकुलित हुए । तत्पश्चात् कुछ दिनों बाद मैं अपने पती के घर लौट आयी तभी से मैंने क्रोध करना छोड़ दिया। हे सेठजी ! क्रोध न आने का एकमात्र यही कारण है। सेठ जिनदत्त ने भी क्रोध के फलों को साक्षात् सुनकर जीवन–जीवन भर तक के लिये ऐसा क्रोध न करने की प्रतिज्ञा ली तथा भद्रा(तूंतारी) के क्षमा गुण की भूरि–भूरि प्रशंसा कर अपने गृह नगर की ओर लौट आये।

देखिये क्रोध का परिणाम, थोड़ा सा भी क्रोध प्राणी की क्या हालत कर देता है। कहां रूप लावण्य आदि विभिन्न गुणों से युक्त श्रेष्ठिपुत्री कहाँ एक जुआरी के हाथ लगी,कहाँ महलों के आनंद में रहनेवाली एक पुत्री जंगलों की पथीली कंकरीली भूमि में एकाकी विचरण करती हुई भीलों द्वारा दी गई असहाय ताड़ना को प्राप्त हुई। सामान्य क्रोध करने का जब यह परिणाम है तो विशेष क्रोध का क्या परिणाम होगा। हम उस समय की यातनाओं को भूल जाते है जो की हम भोग करके आये हैं। यदि उन्हे न भूलें तो फिर कभी भी हम ऐसे कार्यो को नहीं कर सकते।

अत: हमे चाहिये की हम क्रोध के इस दृष्टांत को पढ़कर कुछ अपनी ओर निहारें और देखें कि आखिर हमारी भी तो ऐसी दशाऐं हुई होगी। किन्तु वे सव अज्ञानतावश हुई थी। अब हमें क्रोध के विषय में पर्याप्त ज्ञान हो चुका है तो अव उसे कभी भी न करने का दृढ़ संकल्प लें, और अपने आपको क्षमा से विभूपित करें।

*****

२२. कृतघ्नता एक पाप

सेठ जिनदत्त ने कपटभाव सेमुनिराज मणिमाली से कथा सुनाने की प्रार्थना की। मुनिराज मणिमाली यद्यपि सेठ जिनदत्त के हार्दिक कपट भाव को जानते थे।फिर भी उन्हो ने करूणार्ध्द हो उससे ही कहा कि नहीं सेठजी ,आज आप ही मुझे कोई कहानी सुनायेंगे। आज मैं प्रथम आप के मुँह से ही कहानी सुनूंगा। जिनदत्त तो यह चाहता ही था,अत:उसने एक कहानी कहना प्रारंभ कर दी।

सेठ ने कहा–महाराज श्री बनारस नगरी में किसी समय राजा जिनदत्त मित्र राज्य करते थे। उनके राज्य मे एक अर्ध्दालंकार नामक वैद्य भी रहते थे। उसकी स्त्री का नाम धनदन्ता था। उसके धनमित्र और धनचंद्र नामक दो पुत्र थे। अधिक लाड़ प्यार में रहने के कारण दोनों निरक्षर ही रहे। पिता की मृत्यु के पश्चात उन पर विपदाओं के बादल घिर आए।उन्हे मूर्ख समझ राजा ने उनकी आजीविका छिन लीतथा कहा कि आप लोग प्रथम विद्याभ्यास करके आओ तभी राज वैद्य के पदपर प्रतिष्ठित रह सकते हो, अन्यथा नहीं।''अज्ञानी वैद्य और अज्ञानी पंड़ित से प्राणी की अपूर्व क्षति होती है।जिसका दाग प्रजा मात्र ही नहीं अपितु राजा पर भी लगता हैं।'' राजाज्ञा लें दोनों चंपापुरी नगरी गये। और वहां के राजवैद्य शिवमूर्ति ब्राम्हण से विद्याध्ययन करने लगे। ''सच्ची लगन और उचित श्रम का फल सदा मीठा और सफल होता है।'' अध्ययन पूर्ण कर गुरू आज्ञा ले वे वापिस उज्जयनी नगर की ओर चले गये।

मार्ग मे उन्हे एक चक्षुहीन व्याघ्र मिला। उसे देख धनमित्र ने धनचंद्र से कहा भाई ! देखो यह व्याघ्र नेत्रों बिना कितना कष्ट पा रहा है। यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं इसका उपचार कर दूँ। यह सुन धनचंद्र ने कहा अरे भाई !तुम यह क्या कर रहे हो? यह अति क्रूर मांसाहारी पशु है। इस पर उपकार करने से क्या हम लोगोंकी प्राण हानी नही होगी?अवश्य ही ये हम दोनों को खा जायेगा। अरे सर्प को दूध पिलाने से क्या वह निर्विष ड़ंख देता

है। अतः सावधानी से ऐसी नादानी मत करो अन्यथा हम दोनों के प्राण व्यर्थ में ही चले जायेंगे। किन्तु धनमित्र ने अपने भाई की बात नही मानी और व्याघ्र के नेत्रों मे उसने औषधी का प्रयोग कर दिया। अपने भाई की दृढ़ता को देख वह किसी वृक्ष की ऊंची टहनी पर चढ़ गया और पत्तों की गहन आड़ में छिप कर धनमित्र की सारी प्रवृत्तियों को देखता रहा। धनमित्र ने जैसे ही व्याघ्र के नेत्रों में औषध का लेप किया वैसे ही उसे दिखने लगा।उसके नेत्र ठीक हो गये। व्याघ्र भूखा तो था हीउसने अपने समीप धनमित्र को देख क्रूरता से उस पर आक्रमण कर दिया और देखते ही देखते उसे उदरस्थ कर गया। जिनदत्त सेठ ने मुनिराज से कहा कि हे भगवान ! अब आप ही बताइये क्या व्याघ्र ने अपने उपकारी को भक्षण कर ठीक किया? महाराज ने कहा–नही सेठजी !व्याघ्र ने यह उचित कार्य नही किया,क्योंकि अपने उपकारी का बदला सदा उपकार से ही चुकाना चाहिये। यदि हम ऐसा न कर सके तो कभी भी उसका अपकार तो भूलकर भी नहीं करना चाहिए।

सेठ के कहने का अंतरंग तात्पर्य यह था कि मैंने आपकी इतने दिन सेवाभक्ति कर भयंकर पीड़ा का उपचार किया, और आप हमारा धन चुरा ले गये। उसी कपट भाव से उसने यह कहानी मुनिराज को सुनाई थी। मुनिराज ने भी भावों को समझ सत्य उत्तर दिया था।

देखिये !अज्ञानता का साम्राज्य ,जिसमे सत्यासत्य का किंचित् भी भान नही रहता है, उसे इतनी समझ भी नही रह जाती हैकि हम किसे क्या कह रहे है, कहने के पूर्व कम से कम तथ्य को विभिन्न पहलुओं से देख लें, अच्छी तरह खोज ले और सत्य निर्णय कर लें। ठीक ही हैयदि इतना भाव हो जाए तो फिर ज्ञान अज्ञानता मे अंतर ही क्या रहेगा।

अतः हमको चाहिये कि हम कभी किसी के प्रति कुछ भी कहें किन्तु कहने के पूर्वउस बात को अच्छी तरह से सोच लें, अन्यथा स्वयं ही उपहास या आपत्ती के पात्र बन जायेंगे।

*****

२३. अधैर्यता क्यों?

जिनदत्त सेठ कथा कहकर अपलक मुनिराज की ओर निहारने लगा। संदेहबीज के कोंपलें उसके अंतस्थल में प्रस्फुटित हो वृद्धिंगत हो रहे थे। अगले ही क्षण उसने मुनिराज से कथा सुनाने की प्रार्थना की। मुनिराज मणिमाली ने भी सेठ जिनदत्त की कहानी सुन कर उत्तर स्वरूप एक दूसरी कहानी कहना प्रारंभ किया। मुनिराज बोले - हस्तिनापुर में किसी समय विश्वसेन राजा राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम वसुकान्ता था। वसुदत्त नामक उसका एक पुत्र था। वयस्क हो जाने पर राजा ने राज्य पट्ट बांध दिया और स्वयं आनंद के जीवन व्यतीत करने लगा। एक दिन किसी सार्थवाह ने महाराज विश्वसेन को एक आम की गुठली भेंट में दी। राजा विश्वसेन ने गुठली को देखते हुए पूछा - यह क्या है? सार्थवाह ने कहा - हे दीनबंधु ! यह आम्रफल की गुठली है जो कि सर्वाधिक रोगों के उपचार में काम आती है। इस जाति के फल देश में नहीं होते है इसलिये ही मैंने यह आपकों भेट में दी है। सार्थवाह से उक्त वार्ता सुन महाराज विश्वसेन बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने उसे उचित पुरस्कार देकर विदा किया।

राजा विश्वसेन ने वह गुठली अपनी प्रिय पटरानी को दे दी। रानी ने उसे अपने पुत्र को दे दी। वसुदत्त उस आम्रगुठली को लेकर अपने पिता महाराज विश्वसेन के पास गया और आम्रगुठली की विशेषता के विषय में पूछने लगा। महाराज विश्वसेन ने कहा - बेटा ! यह आम्रफल की गुठली है। इसका फल अत्यंत स्वादिष्ट एवं मिष्ट होता है। वैद्य लोग इसका प्रयोग अनेक रोगों में करते है। राजा ने वह गुठली किसी चतुर वनमाली (बागवान) को वपन करने हेतु दे दी। माली की कुशलता से थोड़े ही दिनों में अंकुरित हो धीरि-धीरि विशालकाय आम्रवृक्ष बन गई तथा समय-समयपर फल आने लगे।

एक दिन एक गिद्ध किसी मृत सर्प का कलेवर लिये हुए वहां से जा रहा था। उसी समय उसके खून की विषाक्त बूंद से वह आम जल्दी ही पक गया। राजोद्यान के माली ने यह फल तोड़कर महाराज वसुदत्त को भेंट दिया। राजा ने आम्र गहण कर माली को उचित पारितोषिक दिया। माली राजा की स्तुति करता हुआ अपने स्थान को चला गया। राजा वसुदत्त ने वह फल को चखा और स्वाद लेते ही वह अचेत हो गया। पुत्र की हालत देख महाराज विश्वसेन भी अचेत हो पृथ्वी पर गिर पड़े।

शीतोपचार के पश्चात् उनकी मूर्च्छा दूर हूई। मूर्च्छा दूर होते ही उन्होंने अनुचरों को उक्त आम्रवृक्ष को समूल काट देने की आज्ञा दे दी। राजवैद्यों ने राजपुत्र के अचेत होने का सारा कारण बताया और वृक्ष कटवाने से रोका उसी वृक्ष का ही फल मंगवाकर राजकुमार को खिला दिया, जिससे देखते ही देखते राजकुमार खड़ा हो गया। यह देख राजा को अपनी अधैर्यता पर पश्चाताप होने लगा, वह सोचने लगा – अरे धिक्कार हो मुझे, जिस आम्रवृक्ष से कुमार ठीक हुए मैं उसी को कटवा रहा था, क्षण भर भी इसके विषय में नहीं सोचा और सहसा उसे कटवाने हेतु तैयार हो गया।

अंत में मुनिराज मणिमाली ने सेठ को समझाते हुए कहा कि – सेठ! कोई भी कार्य क्यों ना हो उसे पहले पूर्वापर सोच लेना चाहिये, बिना विचारे उतावले बनने से करवाने या करने हेतु सहसा तैयार नहीं होना चाहिये अन्यथा वह पश्चाताप एवं संताप का ही कारण बनता है।

मुनिराज की कहानी का तात्पर्य यह था कि तुम जो बिना सोचे-समझे हमारे ऊपर चोरी का इल्जाम लगा रहे हो वह सर्वथा गलत है। अर्थात् बिना निर्णय किये तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिये।

*****

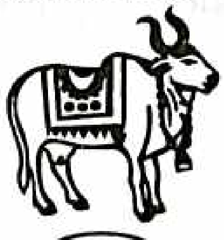

२४. उपकारी के प्रति भी अपकार

सेठ जिनदत्त बहुत कुशल था। मुनिराज के मुख से कहानी सुन प्रत्युत्तर स्वरूप तत्काल ही उसने कहानी कहना प्रारंभ कर दिया। उसने कहा – हे महाराज! उपकारी के प्रति अपकार करने वाले इस संसार में कम नहीं हैं। मैं इसका यथार्थ निरूपण करने वाली एक कहानी सुनाता हूँ।

किसी समय गंगा नदी के तट पर विश्वभूति नामक एक तपस्वी रहता था। एक दिन एक नदी में उसने एक गज शिशु (हाथी का बच्चा) को बहता हुआ देखा। उसे देखते ही तपस्वी को करूणा आ गयी। उसने उस गज शिशु को नदी से बाहर निकाल दिया तथा उसका लालन-पालन करने लगा। गज शिशु क्रमश: बढ़ते-बढ़ते एक दिन वह विशालकाय हाथी हो गया। किसी दिन राजा ने उस हाथी को देखा और देखते ही वह उस पर मुग्ध हो गया। राजा ने वह हाथी तपस्वी से क्रय कर लिया। किंतु अबोध गजराज महावत के अंकुश की तीव्र वेदना से दु:खी होने लगा। महावत के बहुत प्रयत्न करने पर भी वह उससे कुछ भी नहीं सीख पाया। जिससे कुद्ध हो महावत ने अंकुश के प्रहार से उसके सर्वांग क्षत-विक्षत कर दिये।

एक दिन अनुकूल अवसर पा वह हाथी भागकर गंगा तट पर स्थित उस तपस्वी के पास आ गया। किन्तु तपस्वी ने उसे अन्य की सम्पदा मान वहां नहीं रहने दिया। उसने वहां से भगाना चाहा, किन्तु उस अज्ञानी गज ने कुद्ध हो उस तपस्वी पर ही आक्रमण कर दिया और उसे सूड़ में लपेटकर पृथ्वी पर पछाड़ दिया। जिससे उसके प्राण पखेरू उड़ गये।

सेठ ने मुनिराम से कहा कि – हे महाराज! जिसने गज शिशु की रक्षा की उसका लालन पालन कर उसे बड़ा किया, फिर भी उस कृतघ्न गज ने उसे मारकर क्या अच्छा किया? मुनिराज ने कहा, नहीं जिनदत्त! उसने अपने प्राणरक्षक को मारकर अच्छा नहीं किया।

*****

२५. काम करो पर सोचकर

सेठ जिनदत्त के मुख से कथा सुनने के पश्चात् मुनिराज मणिमाली ने भी प्रत्युत्तर में कहानी कहाना प्रारंभ की। उन्होंने कहा – सेठ जी ! एक कहानी मैं भी सुनाता हूं, तुम ध्यान से सुनो – चंपापुर नगर में एक देवदत्ता नामक अत्यन्त सुन्दरी गणिका रहती थी। उसने अपने यहां एक तोता पाल रखा था और उसे आत्माराम कहकर पुकारती थी। देवदत्ता का उस पर अधिक प्रेम था। उसे वह अपने प्राणों से भी बढ़कर मानी थी।

एक दिन वह उस तोते के लिए एक पात्र मे कुछ आसव (मादक पदार्थ) रखकर किसी अन्यत्र काम के लिये चली गयी। इतने में किसी बालिका ने धीरे से आकर उस आसव में विष घोल दिया। बालिका के इस कृत्य को तोते ने देख लिया था अत: उसने उस आसव को नहीं पिया। वह ज्यों का त्यों रखा रहा। कुछ समय पश्चात् देवदत्ता ने आकर देखा कि 'आत्माराम ने अभी तक आसव नहीं पिया, शायद वह मेरे हाथ से पीना चाहता हो। अत: उसने तोते को आसव पिलाना चाहा किन्तु फिर भी तोते ने आसव नहीं पिया। तोते की दृढ़ता के समक्ष देवदत्ता के सभी प्रयास निष्फल रहे, वह थक चुकी थी, किन्तु तोता उस आसव को देखता भी नहीं था। तिर्यंचों में भी इतना विवेक होता हैं कि क्या वस्तु भक्ष्य है और अभक्ष्य। अभक्ष्य वस्तुओं को वे प्राणांत भी सेवन नहीं करते हैं। अन्त में देवदत्ता ने निरूपाय हो बलपूर्वक उसे आसव पिलाना चाहा किन्तु फिर भी तोते ने उसे नहीं पिया जोर–जोर से शोरगुल मचाने लगा। जिससे तंग देवदत्ता ने क्रोध में आकर उसका गला घोंट दिया। जब इच्छानुसार कोई कार्य नहीं होता है तो झुंझलाहट

बढ़ती है। झुझलाहट से क्रोध, क्रोध से अविवेक, अविवेक से अकृत्य होता है। मुनिराज ने सेठ जिनदत्त से कहा कि – हे जिनदत्त ! अब तुम्हीं कहो – देवदत्ता का उक्त कार्य क्या उचित था? किसी के अपराध का दण्ड किसी अन्य को देना क्या न्यायसंगत है? इस प्रश्न का उत्तर में आपसे ही चाहता हूं। मुनिराज की कहानी तथा प्रश्न को सुन जिनदत्त ने कहा की महाराज नहीं महाराज ! वेश्या का उक्त कार्य न्यायसंगत नहीं था। उसे तोते के आसव न पीने के कारण को अच्छी तरह सोचना था, किन्तु उसने ऐसा ना कर अपनी मूर्खता ही सिद्ध की।

इसलिये हमें भी चाहिये कि किसी भी कार्य को करने से पूर्व अच्छी तरह सोच-विचार कर लें अन्यथा पीछे पछताना पड़ेगा।

देखिये ! व्यक्ति सोचता है, जानता है और देखता भी है। वह कुंआ खोदता है और सोचता है कि कुंए के जल से ही जलती हुई झोपड़ी की आग बुझायेगा। किंतु वह तब सोचता है जब कि झोपड़ी में आग लग जाती है, या झोपड़ी जलना प्रारंभ हो जाती है या जल जाती है। यदि पहले से ही सोच ले तो संभव है वैसा कभी न होता जैसा कि वह चाहता न था।

अत: हमें चाहिये कि हम भी वस्तु के विषय में सोचे जरुर, किन्तु समय के पूर्व सोचें जिससे कि हमारा सोचना सार्थक हो जायें और हम बिना सोचे किये गये कार्य से बच सकें।

*****

२६. रक्षक का ही भक्षण

मुनिराज के मुख से कथा सुन जिनदत्त सेठ ने मुनिराज से कहा – हे भगवान् ! मैं अब एक अन्य कथा आपको सुनाता हूँ।

यदि आपकी आज्ञा हो तो प्रारंभ करूँ। महाराज श्री ने उसे कहानी सुनाने की स्वीकृति दे दी। सेठ ने कहानी प्रारंभ की उसने कहा –

हे ऋषिराज ! वाराणसी में एक सुभद्रदत्त नामक धनाढ्य व्यापारी रहता था। तथा उसका पेट भी बहुत बड़ा था। वसुदत्ता उसकी स्त्री थी। किसी एक दिन चोरी हेतु एक चोर नगर में प्रविष्ट हुआ। यद्यपि रात्रि का समय था किन्तु उस समय सभी जाग रहे थे। चोर की थोड़ी सी आहट पाकर सभी समझ गये और चोर को पकड़ने हेतु दौड़े। तब चोर घबड़ाकर सेठ सुभद्रदत्त के गृह में घुस गया और उनसे अपने आप को बचाने की याचना करने लगा। सेठ सुभद्रदत्त ने द्रवित हो कर उसे अपने पेट के नीचे छिपा लिया। इतने में कोटपाल रक्षक सैनिकों के साथ वहां आया और उसने सेठजी से चोर के संबंध में पूछताछ की। सेठ ने उनके प्रश्नों का कुछ उत्तर नहीं दिया। अन्त में कोटपाल के सेठजी के सारे महल में चोर को खोजा किन्तु वह नहीं मिला और वे चोर को न देखकर चले गये।

सभी के लौअ जाने पर सेठ ने उसे अपने वस्त्रों से निकाला और आइंदा आगे ऐसा न करने की शिक्षा एवं प्रतिज्ञा देकर उसे अपने घर लौटा दिया। सेठ की बात सुन चोर वहां से अपने घर की ओर चला और कुछ ही समय पश्चात् वह आधे रास्ते से लौट आया। तब तक सेठ जी तथा उनका परिवार सो चुका था। अवसर पाकर उस चोर ने निर्भयता से सेठजी के धन

की चोरी की और धन ले वह वहां से नौ दो ग्यारह हो गया। प्रभात होते ही सेठजी को अपने गृह में हुई चोरी का पता चला। समाचार पाते ही उन्होंने अपनी कुशल बुद्धि से चोर का पता लगा उसे अपने समक्ष बुलाया। उन्होंने उसे उचित दण्ड दिलवाया।

सेठ जिनदत्त ने कहा कि – हे योगीराज ! क्या चोर को इस प्रकार का कार्य करना उचित था? उसने अपने प्राणरक्षक को ही भक्षण करना चाहा था। क्या उपकार का यह नतीजा होता हैं? इत्यादि कह वह चुप हो गया। तब महाराज ने कहा – हे जिनदत्त ! चोर को इस प्रकार कदापि नहीं करना चाहिये था। यदि कोई उपकार का बदला प्रत्युपकार से नहीं दे सके तो उसे कभी भी जीवन की अंतिम श्वास तक उपकारी का अपकार नहीं करना चाहिये।

देखिये सेठ के उपकार को कि उसने संकटापन्न चोर की रक्षा की किन्तु फिर भी चोर ने अपनी दुष्टता को नहीं छोड़ा, उसने रक्षक को भी अपना भक्षक बना लिया। ठीक ही है दुर्जन पुरुष, लाख उपाय करने पर भी अपनी नीचप्रवृत्ति नहीं छोड़ते हैं।

अत: हमें चाहिये कि सदा सेठ सुभद्रदत्त की तरह उपकारी बनें, किन्तु कभी भी चोर की तरह कृतघ्नी न बनें।

*****

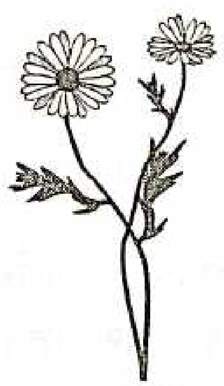

२७. झूठा आरोप

जिनदत्त के विराम लेते ही मुनिराज ने भी एक नई कथा प्रारंभ की। उन्होंने कहा – जिनदत्त मैं भी एक कहानी सुनाता हूँ ध्यान पूर्वक सुनो। वंग देश की चंपापुर नगरी में सोमशर्मा नाम का एक ब्राह्मण रहता था। वह बड़ा श्रीमान और धीमान था। वेद वेदांग का पूर्ण ज्ञाता था। सोमिल्ला और सोमशर्मिका नामक उसकी दो स्त्रियाँ थी। सोमिल्ला को एक पुत्र था इसलिये वह उसे अत्याधिक प्रिय था। सोमशर्मा उससे अधिक सर्वाधिक अनुराग रखता था किन्तु सोमशर्मिका को यह पसंद नहीं था। वह सोमिल्ला को देख सदा कुढ़ती एवं उससे द्वेष करती थी। धीरि-धीरि वैमनस्यता विरोध पूर्ण रोष में परिवर्तित हो गयी। दोनों में नित्यशः कलह होने लगी। सोमशर्मिका सोमिल्ला के पुत्र से भी डाह रखने लगी।

एक दिन सोमशर्मिका विचार कर रही थी कि मैं सोमिल्ला को कैसे नीचा दिखाऊं। इतने में उसकी दृष्टि एक बैल पर पड़ी। लोग इस सांड को 'भद्र' नाम से पुकारते थे। वह यथा नाम का गुणकारी था। उसकी अत्याधिक सरलता देख लोग उससे प्रेम करते थे तथा लोग उसे अच्छे-अच्छे पकवान खाने को देते थे। जब वह सोमशर्मा के द्वार पर खड़ा आनंद तरंगो में मस्त था, तब सोमशर्मिका ने अनूकूल अवसर देख सोमिल्ला के पुत्र को उसके सींग पर पटक दिया। बैल के सींगो की तेज नोंक से बालक विध गया और चीख कर मर गया। इस दुखद समाचार से सारे नगर में हा-हाकार मच गया। सोमशर्मिका के कपट को कोई नहीं पकड़ सका। ''कपटी का कपट प्रायः अदृश्य एवं अज्ञात होता है। उसे विरले ही पकड़ सकते हैं। किन्तु वह अधिक समय तक छिप नहीं पाता है, समय पर प्रगट हो ही जाता है।'' सभी लोगों की नजर में भद्र नामक सांड़ ही अपराधी समझा गया। नगरवासियों ने ताड़ना देकर उसे नगर से बाहर निकाल दिया। उसे कुछ खाने को नहीं देते थे। जिससे वह नगर के बाहर रहने लगा।

उसी नगरी में वाणिकों के प्रमुख एक जिनदत्त सेठ रहता था। उसकी पत्नी का नाम जिनमती था। वह अत्यंत रुपवती एवं सुशील थी, किन्तु

कर्मों की यही विचित्रता है। लोगों ने आपसी वैमनस्यता के कारण जिनमती पर कुराचार का आरोप लगा दिया। जिससे जिनमती का हृदय करूणापूर्ण क्रन्दन कर उठा। लोगों ने उससे निर्दोषता साबित करने हेतु जलता हुआ लोहा उठाने को कहा।

जिनमती ने इस बात को सहर्ष स्वीकार कर लिया और सहसा उस तप्त लोहे को उठाने हेतु जैसे ही आगे बढ़ी कि ठीक उसी समय वह भद्र नामक सांड दौड़ा आया और उसने अपनी निर्दोषता साबित करने के लिये वह अग्नि से संतप्त लोहे को अपने मुंह से उठा लिया। तथा उसे बहुत समय तक मुंह में दाबे रहा किन्तु उसका मुंह नहीं जला। यह देख सभी ने भद्र की निर्दोषता तथा सत्यता की प्रशंसा की। तत्पश्चात् जिनमति ने भी उस संतप्त लोहे को उठाकर अपने शील की परीक्षा दी।

इतना कह कर मुनिराज ने जिनदत्त से कहा कि हे सेठ! अब तुम ही बताओ कि लोगों ने भद्र बैल एवं जिनमती सेठानी पर झूठा आरोप लगा कर क्या ठीक किया? क्या बहुत से लोगों द्वारा झूठ की पुष्टि करने पर असत्य सिद्ध हो सकता है? क्या झूठ कभी छिप सकता है? अत: जब तक किसी कि बात की पूर्ण जानकारी नहीं हो जाती तब तक किसी पर झूठा आरोप नहीं लगाना चाहिये।

देखिये! आतुरता से लिया गया निर्णय प्राय: सत्य नहीं होता है। अज्ञानता का प्रथम परिचय यही है कि किसी वस्तु के विषय में यथार्थ सोचे विचारे बिना शीघ्र ही निर्णय को प्राय:सत्य समझता है। किन्तु वस्तु स्थिति वैसी नहीं होती। कालान्तर में जब निर्णय होता है तब फिर वह अपना सिर धुनता है अथवा शर्म से निम्न निगाही बन जाता है।

अत: हमें चाहिये कि हम जब-जब भी किसी वस्तु का निर्णय लें तो पहले उस विषय में अच्छी तरह से सोच लें कि हमारा निर्णय क्या सत्य है? अथवा नहीं।

****

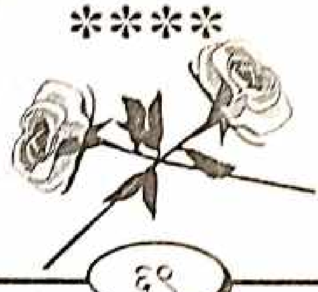

२८. प्राण रक्षक का ही घात

मुनिराज श्री मणिमाली के मुख से कहानी सुनने के पश्चात जिनदत्त ने भी कहानी सुनाना प्रारंभ किया उसने कहा –

हे मुनिराज ! किसी एक दिन पद्मस्थ नगर के राजा वसुपाल ने अयोध्या नरेश महाराज जितशत्रु के पास किसी आवश्यक कार्य हेतु अपना दूत भेजा। वह दूत ब्राह्मण वर्णी था। मार्ग में उसे एक वन पड़ा। वन बड़ा घनघोर था। उसमें अनेक हिंसक जानवर रहते थे। गर्मी का मौसम था। तेज धूप एवं मार्ग के श्रम के कारण उसका गला प्यास से अवरूद्ध हो चुका था, गला सूख जाने के कारण उसे चलना भी भारी पड़ रहा था। किन्तु कहीं जल के दर्शन नहीं हो रहे थे। लड़खड़ाते चलते–चलते आखिर में वह एक वृक्ष के नीचे गिर ही पड़ा।

दूत की दयनीय अवस्था देखकर एक बंदर ने किसी जलाशय की ओर संकेत करते हुए रास्ता दिखाया जिससे ब्राह्मण दूत ने प्रसन्नता से भरपेट पानी पी अपनी तृष्णा को शांत किया। वह नीच ब्राह्मण मन ही मन सोचने लगा क्या पता आगे पानी मिले या न मिले रास्ता लम्बा है और वन गहन है। यदि बहुत दूर तक पानी न मिला तो हमारी क्या अवस्था होगी कहां गिरूँगा, कहां पड़ूंगा, किससे जल मागूंगा, कौन मेरी रक्षा करेगा। अत: यहां से कुछ जल का प्रबंध कर लेना चाहिये। किन्तु यह कैसे संभव है, अपने पास जल रखने हेतु कोई पात्र तो है ही नहीं, और आसपास में कही पात्र भी नहीं हो सकता। इत्यादि विचार करते–करते उसने एक नीच उपाय खोज लिया। उसने सोचा इस बन्दर को मार एक चमड़े की मसक बन सकती है

और इसमें आसानी से जल भरा जा सकता है। अत: ऐसा करना ही ठीक होगा। इत्यादि सोचते-सोचते ही उस अधम ने उपकारी बन्दर पर धोखे से दर्दनाक प्रहार कर दिया, जिससे बंदर तड़फड़ाते हुए मर गया। ब्राह्मण ने उसके चमड़े की एक मसक तैयार कर ली और उसमें पानी भरकर आगे चला गया।

अंत में सेठ ने मुनिराज से कहा कि – हे मुनिराज ! मैं आपसे यही पूंछना चाहता हूं कि – निर्दोष तथा उपकारी बन्दर को मारकर ब्राह्मण दूत ने क्या उचित किया? उसे ऐसा करना क्या ठीक था? उपकारकर्ता के प्रति क्या उसका यही कर्तव्य था? मुनिराज ने कहा – नहीं जिनदत्त । उसे ऐसा करना कदापि उचित नही किया। अपने उपकारी के प्रति उपकार करने वाले के समान विश्वासघाती, पापी, एक कृतघ्नी और कोई नही। इसका दारुण दु:ख उसे कुयोनियों में ही जाकर भोगना पड़ेगा।

देखिये ! स्वार्थी प्राणियों की स्वार्थ परायणता व्यक्ति कितना स्वार्थी होता है, वह अपने स्वार्थ के लिये दूसरों के भी प्राणों की परवाह नहीं करता। यहाँ दृष्टि में दूसरे के प्राण या कष्ट, कष्ट नहीं होते हैं अन्यथा वह ऐसा कुकृत्य कैसे करता ऐसा करने का उसका साहस भी कैसे होता। ठीक भी है स्वार्थी व्यक्तियों में धर्म कैसे हो सकता है। धर्म के नाम पर ढोंग जरूर संभव है।

अत: हमें चाहिये कि हम ऐसी स्वार्थपूर्ण कृतघ्नता को अपने जीवन में प्राणान्त तक भी स्थान न दें।

*****

२९. वफादार नेवला

जिनदत्त की कथा सुनकर मुनिराज ने समताभाव धारण करते हुए उसके संतोष के लिए पुन: एक कथा कहना प्रारंभ किया। उन्होंने कहा – हे जिनदत्त ! मैं भी एक कहानी सुनाता हूं तुम उसे ध्यान से सुनो –

इस जंबूद्वीप की कौशाम्बी नगरी में एक श्री (लक्ष्मी) और समृद्धि (वैभव) सम्पन्न एक ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री का नाम कपिला था। वह रूप आदि गुणों से युक्त पति परायणा नारी थी। एक दिन सोमशर्मा किसी कार्यवश अन्य देश को गया था। मार्ग में एक वन पड़ा वहां उसे एक नेवले का छोटा बच्चा दिखा। सोमशर्मा ने उसे उठा लिया और अपने घर लाकर उसे कपिला को सौंप दिया। उस समय कपिला के कोई सन्तान नहीं थी। अत: वह नेवले के बच्चे को लेकर बड़ी प्रसन्न हुई और बड़े स्नेह से वह उसका लालन-पालन करने लगी। कुछ दिनों मे नेवले का बच्चा वयस्क हो गया। उसी समय कपिला को पुत्र हुआ। पुत्र जन्म से सभी हर्षित हुए। पुत्रवजी होने पी भी कपिला का नेवले पर पूर्ववत् स्नेह बराबर बना रहा। नेवला भी घर की पूर्ण रखवाली करता हुआ स्वामीभक्ति का परिचय देता रहा।

किसी एक दिन कपिला पुत्र को पालने में सुलाकर धान्य के खेत में चली गई। बालक की रक्षार्थ हेतु नेवले को वह वहां ही छोड़ गई। नेवला भी पूर्ण सावधानी के साथ बालक के चारों तरफ घूमता हुआ रक्षा कर रहा था। इतने में ही नेवले ने विशालकाय काले सर्प को फन उठाए हुए बालक की ओर आता हुआ देखा। देखते ही नेवला पहले सतर्क हुआ। पश्चात् जोश भर सहसा सर्प पर टूट पड़ा। दोनों में दीर्घकालीन युद्ध हुआ। अंत में नेवले की जीत हुई, उसने सर्प के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। सर्प के खून से नेवले का सारा शरीर लाल-लाल हो गया था। विजय पा नेवला बालक के पास विश्रान्ति हेतु बैठ गया और अपनी स्वामिनी के आने की प्रतीक्षा में कभी द्वार जाता और कपिला को आता न देखकर लौटकर पुन: बालक के पास

आ जाता था। यह क्रम उसका कई बार चला। अबकी बार उसे कपिला आती हुई दिखी। उसे देखते ही वह उछलता-कूदता कपिला के पास जा पहूंचा। किन्तु उसके शरीर, नख एवं मुख को खून में अनुरंजित देख कपिला को आश्चर्य का कोई पार नहीं रहा। वह सोचने लगी अवश्य ही इसने मेरे पुत्र को मार दिया होगा। उसे भक्षण कर ही ये मेरे निकट आया है। पुत्र के रक्त से ही इसकी देह लहुलुहान हो रही है। कपिला का रोम-रोम प्रतिशोध की अग्नि में फड़कने लगा, और उसने देखते ही देखते हंसिया के तीक्ष्ण प्रहार से उस स्वामीभक्त नेवले का वध कर दिया और शोकाकुलित हो अपने गृह में प्रवेश किया तथा विलाप करती हुई पालने के निकट गई। वहां बालक को किलकारी भरते हुए देख उसके हर्ष का पार नहीं रहा, उसका सारा शोक समाप्त हो गया। उसने बालक को सहसा उठाकर गले से लगा लिया। उसी समय उसकी दृष्टि पालने के निकट पड़े विशालकाय मृत सर्प के टुकड़ों पर पड़ी। उसे देखते ही वह नेवले के परोपकारी जीवन का स्मरण कर दुखित होने लगी और अपने कृत्य की बार-बार निंदा करती हुई रोने लगी।

इतना कह कर मुनिराज ने सेठ से कहा - हे जिनदत्त ! अब आप कहो बिना सोचे समझे कपिला ने क्या उचित कार्य किया? अपनी अज्ञानता का दण्ड नेवले को देना क्या उसे उचित था। क्या यही रक्षा का प्रतिफल हैं? सेठ ने कहा - नहीं महाराज ! कपिला को बिना सोचे समझे ऐसा करना कदापि उचित नहीं था। उसका कृत्य घोर अज्ञानता से पूर्ण था एवं निन्दनीय था।

देखिये ! कपिला ने देखा तो सही किन्तु सोचा नहीं बस ! इसी का नाम अविवेक है, अविवेकी देखकर भी अनदेखा और सुनकर भी अनसुना रह जाता है क्योंकि वह सोच नहीं पाताहै उसके पास सोचने की क्षमता ही नहीं रहती है अथवा क्षमता होने पर भी उसका समय पर उपयोग न होने के कारण वह न होने के तुल्य ही गिनी जाती हैं।

अतः हमें चाहिये कि हम किसी भी कार्य को देखे, सुनें और सोचे तथा समय पर अपने विवेक का उपयोग करें । तभी हमारा विवेक सार्थक और सफल होगा।

*****

३०. धोखेबाज शिष्य

मुनिराज के वचनों को सुनकर सेठ जिनदत्त आकुलित हो उठा। अपना उद्देश्य सिद्ध होता ना देखकर उसका धीरज समाप्त होने लगा। फिर भी कुछ विचार कर अपने प्रकारान्तर से एक अन्य कथा कहना प्रारंभ किया।

उसने कहा – हे मुनिराज ! वाराणसी नगरी में एक ब्राह्मण रहता था। उसका नाम सोमशर्मा था। सोमा उसकी पत्नी का नाम था। किन्तु वह बड़ी चपला एवं चरित्रहीन नारी थी। सोमशर्मा जब किसी कार्य हेतु बाहर जाता तब वह अपने प्रेमियों के साथ प्रेमक्रीड़ा (व्यभिचार) किया करती थी। पश्चात् पति के आने पर वह इस तरह कपट रचना थी कि सोमशर्मा को उस पर आशंका तक करने का अवसर नहीं मिलता था। "कपट ऊपर से मिष्ट एवं सुगन्धित होता है किन्तु अंदर जो पूर्ण हलाहल एवं दुर्गन्धपूर्ण होता है। परंतु इसके भेद विज्ञान को पा लेना सभी के लिए सहज नहीं है।"

एक दिन सोमशर्मा किसी कारणवश बाहर गया हुआ था। तब उचित अवसर देख सोमा किसी ग्वाले के साथ प्रेमालिंगन करने लगी। किन्तु उसी समय किसी कारणवश उसका पति रास्ते से लौट आया। उसने पत्नी को ग्वाले के साथ अलिंगन करते हुये देख लिया। जिसे देखते ही उसके मन में वैराग्य भाव जागृत हो गया। अत: उसने बांस की पोली डंडी में कुछ स्वर्ण आदि धन छिपा लिया और तीर्थ यात्रा हेतु निकल पड़ा। मार्ग में उसे एक कपटी तरूपा वंचक से भेंट हुई। उसने कपट भाव से सोमशर्मा को नमस्कार कर शिष्य बनने की अभिलाषा व्यक्त की। सोमशर्मा ने उसकी रूचि तथा सेवाभक्ति देख कर अपना शिष्य बना लिया।

देशाटन करते हुए किसी एक दिन उन दोनों ने एक कुम्हार के घर पर रात्रि विश्राम किया तथा प्रात: होते ही वे दोनों यात्रा के लिए निकल पड़े।

नगर के कुछ दूर आगे जाने के पश्चात् युवाशिष्य ने अपने गुरु से कहा - गुरुदेव ! मेरे सिर के बालों में कुम्हार का एक तृण आ गया है, यदि आप आज्ञा दे तो मैं उसे वापिस लौटा आऊँ। क्योंकि आपने ही मुझे पढ़ाया था कि ''बिना अनुमति के तृण भी नहीं लेना चाहिये क्योंकि उसे ले लेना चोरी है और पांच पापों में चोरी एक पाप है। अत: अनायास असावधानी से हुये इस पाप का प्रायश्चित् के लिये कुम्हार का तृण वापिस करना ही उचित समझता हूं। अत: मैं अविलम्ब लौट आता हूं। इस प्रकार आज्ञा ले वह शीघ्र ही वहां से प्रस्थान कर गया। सोमशर्मा ने पास के ब्राह्मणों के यहाँ जाकर भोजन किया और वहाँ से आकर पूर्व स्थान पर बैठ कर शिष्य की प्रतिक्षा करने लगा। कुछ समय पश्चात् युवा शिष्य वहां आ गया। उसने काल्पनिक सारा वृत्तांत गुरु को सुना दिया। इतनें दिनों के गहन संसर्ग से वह ताड़ गया था कि अवश्य ही गुरु की इस छड़ी में कुछ धन होना चाहिये। अत: वह कैसे प्राप्त करे, बस इसी विचार से वह शिष्य बना था।

गुरु ने उसे पास ही के गांव में भोजन कर आने की आज्ञा दी किन्तु उसने कहा - गुरुदेव मैं भीरू प्रकृतिवाला हूं मुझे वहां के कुत्तों का बहुत डर लगता है। इसलिये मैं भोजन करने वहां नहीं जाऊगा। आज में निराहार ही रहुंगा। सोमशर्मा ने उसे बहुत समझांया तथा अपने हाथ की छड़ी देते हुए कहा लो इसे ले जाओ, डरने की क्या बात है। इस छड़ी से कुत्तों को भगा देना। भूखे रहना ठीक नही है। तुम जाओ और अविलम्ब भोजन कर आओं। गुरु की आज्ञा से उस छड़ी को लेकर वह शिष्य नगर की ओर चल पड़ा और नौ दो ग्यारह हो गया। बहुत समय बाद भी नहीं आने के बाद गुरू समझ गए की वह ठग लिये गये हैं।

इससें हमें यह शिक्षा मिलती है कि अनजान व्यक्ति पर विश्वास नहीं करना चाहिये।

****

३१. गुरूभक्त श्रीकृष्ण

मुनिराज मणिमाली ने एक कथा और सुनाई। उन्होंने कहा – हे जिनदत्त! सुनो मैं भी एक कथा सुनाता हूं। आर्यावत्त में प्रसिद्ध एक दारावती (द्वारिका) नगरी है।पूर्व में वहां के राजा नारायण श्री कृष्ण थे। रूक्मणी, सत्यभामा आदि उनकी बत्तीस हजार शीलवती रानीयाँ थी।

किसी एक दिन राजदरबार में उत्तमोत्तम फल–फूल लिए हुए प्रभुदितमना वनमाली ने प्रवेश किया, तथा महाराज श्रीकृष्ण को प्रणाम कर उसने कहा – हे दीनबंधु! नगरी के बाह्यवर्ती वन में एक परम तपस्वी मुनिराज का शुभागमन हुआ है। जिनके प्रखर तेज से सारा उपवन हरा–भरा हो गया है। भांति–भांति के फल फूलों तथा शुष्कझरनों के सजल होने से वहां की प्राकृतिक छटा में अपूर्व ही सौंदर्य छा गया है।

मुनिराज के आगमन का समाचार सुन महाराज श्रीकृष्ण अत्यंत प्रसन्न हुए। उनका रोम–रोम गद् हो गया। वे शीघ्र ही आसन से उठकर खड़े हो गये और दोनों हाथ जोड़कर सात कदम आगे चलकर उन्होंने सिरशः परोक्ष नमस्कार किया। ''पूज्य पुरूषों के प्रति हार्दिक श्रद्धा ही उनके प्रति सत्य, विनय और भक्ति को जन्म देती है।'' श्रीकृष्ण ने वनमाली को बहुमूल्य वस्त्राभूषण देकर सम्मान किया तथा मुनिराज के दर्शनार्थ नगर में चलने की घोषणा करा दी। घोषणा सुनते ही नगरवासी जन बड़ी भीड़ के साथ एकत्रित हो गये। राजन् ने उन सबके साथ बड़े सज–धज से प्रसन्नचित्त हो वन की ओर प्रस्थान किया। कुछ ही समय में वे सब वन में पहुँच गये। मुनिराज को दूर से ही देखकर श्रीकृष्ण के हर्ष का पार नहीं रहा। वे सहसा रथ से नीचे उतर गये तथा मुनिराज के निकट पहुँचकर एकाग्रचित्त हो उनके दर्शन किये और सविनय नमस्कार कर पूजा की। पश्चात् उन्होंने मुनिराज से विनयवूर्वक पूछा – हे प्रभो! आपकी देह अत्यन्त कृश क्यों है? आपको क्या तकलीफ है? कौन सा रोग है? उसका उपचार कैसे संभव है? कृपा कर मुझे बताने का कष्ट करें। महाराज श्रीकृष्ण की हार्दिक जिज्ञासा तथा भक्ति को देखते हुए मुनिराज ने कहा – राजन! शरीर रोगों का एक घर है। इसके अंगुल–अंगुल प्रमाण स्थानों में ९६-९६ रोग भरे हुयें हैं। जब वे मन्द होते हे तो प्राणी अस्वस्थता का अनुभव करने लगता है। अस्वस्थता ही शरीर की निर्बलता का ही कारण है। किन्तु ये सब मेरे पूर्व कृत कर्मों का फल है। उसे शांति (समता) से सहन करना ही उसके क्षय करने का एकमात्र उपाय है। किन्तु श्रीकृष्ण ने उसके उपचार हेतु उपाय महाराज से पूछ ही लिया। महाराज ने उत्तरों के उपचारों की एकमात्र दवा ''रत्नपिष्टि'' बताई। दवायी की जानकारी पा कर श्रीकृष्ण अति प्रसन्न हुये, उन्होनें मुनिराज से धर्मोपदेश सुना,

पश्चात् नमस्कार कर द्वारावती की ओर प्रस्थान किया। यद्यपि मुनिराज के आहार एवं औषधव्यवस्था राजमहल में ही रखी, किन्तु दिगंबर मुनि किसी निश्चित स्थान पर आहारार्थ नहीं जाते, तथा वे राजा रंक मे समदर्शी होते हैं। पता नही यहाँ आ सके या न आ सके इत्यादि विचार कर श्रीकृष्णजी समस्त नगरवासियों को सूचित कर दिया कि राजमहल के सदस्यों के अलावा मुनिराज को और कोई नहीं पड़गाहेगा। राजाज्ञा के भय से सभी लोग मन मसोस कर हाथ मलते रह गये।

दूसरे दिन मुनिराज अपनी विधि के अनुसार आहारार्थ नगर में आये। महारानी रुक्मणि ने उन्हें विधिपूर्वक पड़गाहन किया। तथा नवधाभक्ति पूर्वक आहार तथा औशधदान दिया। फलस्वरूप मुनिराज थोड़े ही दिनों में स्वस्थ हो गये। मुनिराज की स्वस्थता से सारे नगर में बड़ा हर्ष मनाया गया।

भक्ति का अर्थ अपने पूज्य के प्रति सर्व समर्पित हो जाना है। यहाँ तक ही नहीं, आवश्यकता पड़ने पर अर्थ, श्रम, शरीर तथा लाज की परवाह नहीं करना ही सच्ची भक्ति है। भक्त पूज्य के समक्ष अपने आप के लिए दास या सेवक मानता है। यद्यपि दास शब्द नौकर से निम्न है, किन्तु जितना निम्न है उतना ही उत्कृष्टता प्रदान करने वाला है। क्योंकि नौकर, नौकरी सीमित समय तक करता है, वह भी वेमन से करता है। वास्तव में वह नौकरी करना नहीं चाहता है किन्तु धन के लाभ से उसे परवशता से करना पड़ती है। उसके अपने स्वामी के प्रति हार्दिक श्रद्धा और भक्ति नहीं होती किन्तु जो दास (भक्त) होता है वह नौकर के पूर्व रूप से विपरीत होता है। उसकी अपने स्वामी (पूज्य) के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा होती है, हार्दिक भक्ति होती है। भक्ति सेवा की कोई सीमा नहीं रहती है। अपने पूज्य से प्रत्युपकार में कुछ लेना तो दूर रहा अपितु अपनी हर अमूल्य वस्तु तक के देने के लिए तैयार हो जाता है। यहां तक ही नहीं दास तो स्वयं वड़े स्वयं वड़े से वड़े कष्टों को दूर करने में भी वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देता है। कभी-कभी तो वह धन और श्रम तो दूर रहा अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करता और हंसते-हंसते अपने प्राण तक न्योछावर कर देता है। महाराज श्रीकृष्ण ने भी एक सच्चे गुरु-दास-भक्त का परिचय दिया था। उन्होंने मुनिराज को रोगमुक्त करने में किंचित भी किसी प्रकार की कमी नहीं की। इसी का परिणाम था कि महाराज थोड़े ही दिनों मे स्वस्थ हो गये।

अतः हमको चाहिये कि हम उन जैसी गुरुभक्ति सीखें, उन जैसे औषधदान को सीखें! जिससे हमारे पूज्य गुरुजनों की रत्नत्रयमय मोक्षमार्ग की यात्रा निर्विघ्न चलती रहे तथा उनसे हम सभी को कल्याण पथ का सत्योपदेश मिलता रहे।

******

३२. दर्शन में परिवर्तन

जिनदत्त को संबोधित करते हुए मुनिराज ने कथा को आगे बढ़ाते हुये कहा – हे धर्मवात्सल्य सेठ ! किसी एक दिन धर्म लाभ की भावना से द्वारकाधीश श्रीकृष्ण राजवैद्य को साथ ले वन की ओर गये। वहां प्रशांत मुद्रा के धनी ज्ञानसागर मुनिराज को पाकर अति प्रसन्न हुए। उन्होंने उन्हें साष्टांग नमस्कार किया तथा मुनिराज के स्वास्थ्य परीक्षण राजवैद्य से निवेदन किया। राजवैद्य ने मुनिराज की नाड़ी आदि का परिक्षण कर बताया कि मुनि श्री अब पूर्णरूपेण स्वस्थ्य हैं, उनका रोग समूल नष्ट हो गया है। राजवैद्य की बात सुनकर मुनिराज ज्ञानसागर जी ने श्रीकृष्ण से कहा – राजन् ! संसार के प्रत्येक प्राणी को पूर्वकृत अपने शुभाशुभ कर्मों का फल भोगना पड़ता है, उसे कोई नहीं टाल सकता है । शुभ कर्मों के उदय से जीव को निरोगता आदि स्वत: ही प्राप्त हो जाते हैं और जब अशुभ का उदय होता है तब रोगादि हो जाते है। अभी तक हमारे अशुभ कर्मों का तीव्र उदय था इसलिये रोग की वृद्धि हो गयी थी। किन्तु आज असाता की स्थिति घट गयी जिससे रोग न्हासता को प्राप्त हो रहा है।

मुनिराज का उपदेश सुन राजवैद्य को क्रोध आया और भड़क उठे। वह मन ही मन सोचने लगा – देखो संसार की स्वार्थवृत्ति मुनिराज भी इससे नहीं बच सके। रोग निवारण हो जाने पर, आज धन्यवाद के स्थान पर अब उल्टा हमें ही उपदेश दे रहे हैं। यह कितनी कृतघ्नता है मेरी चमत्कारी औषधियों के प्रभाव से रोग मुक्त हुये हैं और फिर ये शुभाशुभ कर्मों के गुण गा रहे हैं उसने इस अशुभ परिणामों से तिर्यंचायु का बंध बांध लिया। ठीक है 'अज्ञानता प्राणी की दृष्टि को नष्ट करती ही है साथ ही वह उसके लिये बहरा भी बना देती है। जिससे कि फिर उसे सत्य सिद्धांत की बात सुनाई भी नहीं पड़ती।' वह राजवैद्य आयु के अंत में अशुभ परिणामों से मरकर बंदर हुआ।

बंदर धीरे-धीरे वयस्क हो गया। वह जंगल में एक वृक्ष पर रहता था। संयोग वश एक दिन ज्ञानसागर जी महाराज का आगमन हुआ। वे उसी वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ हो गये। मुनिराज को वृक्ष के नीचे बैठा देख बंदर को जातिस्मरण हो गया। वह मन ही मन सोचने लगा कि इसी ने मेरा पूर्वभव में अपमान किया था। मैंने अनेक औषधियों से रोगमुक्त किया था। तब इसने मेरी प्रशंसा न कर कर्मों के ही गुणगान किये थे। जिसे सुनकर

मुझे जले में नमक छिड़कने के समान वेदना हुई थी। इत्यादि सोचकर उसने क्रोध में आकर वृक्ष की एक मोटी डाल तोड़ी और मुनिराज के ऊपर डाल दी। "बैर विवेक को समाप्त कर देता है जिससे कि प्राणी को फिर इतना ध्यान नहीं रहता है कि मैं किसके प्रति क्या कर रहा हूँ। आखिर इसका परिणाम क्या होगा।" डाल गिरने से मुनिराज के सिर पर गहरी चोट लगी। सारा शरीर लहुलुहान हो रहा था फिर भी वे अपने ध्यान से किंचित भी नहीं डिगे। उनके मुख मंडल पर समता की स्पष्ट आभा झलक रही थी। उनकी शांति एवं समता की सुक्ष्म तरंगरें का बंदर पर भी अपूर्व ही प्रभाव पड़ा। वह सोचने लगा कि मैंने इतना कष्ट दिया फिर भी इन्होंने मुझसे कुछ नही कहा, और न ही ये मुझ पर रूष्ट हुए। धिक्कार हो मुझे, मैंने निस्वार्थ साधना में संलग्न मुनिराज को इतना कष्ट दिया, यह अच्छा नहीं किया। इत्यादि प्रकार से उसने अपने अज्ञानपूर्ण कृत्य की खूब निंदा की एवं पश्चाताप किया। वह वृक्ष से शीघ्र ही नीचे उतरा और उसने मुनिराज के शरीर पर पड़ी हुई लकड़ी को दूर किया। एवं पूर्व जन्म में वैद्यक संस्कार से वह जंगल से कुछ जड़ी बूटियों को खोज लाया और उन्हें पीस कर मुनिराज के घावों पर लगा दिया। जिससे मुनिराज थोड़े ही दिनों में ठीक हो गये। मुनिराज के ठीक होने के पश्चात् उसने अपनी भाषा में मुनिराज से अपने कृत अपराधों की क्षमा मांगी। मुनिराज ने भी उसे सहर्ष क्षमा कर सत्य धर्म का उपदेश दिया। तथा उसे पाँच अणुव्रतों के नियम दिये।

देखिये ! समता का प्रत्यक्ष प्रभाव कि जिससे बैर धारण करने वाले बंदर का भी बैर क्षण भर में समाप्त हो गया। उसका वैर ही अपितु वह उनका सदा सदा के लिए भक्त बन गया। प्रायः प्राणी सोचते हैं कि कोई हमारे ऊपर गरजता रहे बरसता रहे और हम उसे आँखे मींचे सुनते तथा सहते रहें। यह हमारी कायरता है, निर्बलता है हमें उसे ईट का जवाब पत्थर से देना चाहिये। किन्तु वह यह नही सोचता कि हमारी उक्त धारणा वैर तथा विरोध को ही जन्म देगी। इससे हिंसा और अशांति ही पनपेगी। इसमें वीरता नहीं है अपितु सच्ची वीरता तो उसमें है कि अपनी व्यवहार कुशलता तथा प्रेमपूर्ण समता से उसे सदा-सदा के लिये अपने चरणों में झुकाले। बैरी से नहीं अपितु वैर से लड़ो, वैर समाप्त कर दो फिर बैरी तो तुम्हारा मित्र एवं भक्त बन जायेगा।

*****

३३. परिणामों का खेल

मुनिराज मणिमाली और सेठ जिनदत्त के व्दारा चल रहे परस्पर कथा युध्द को सुन सेठ जिनदत्त का पुत्र कुबेरदत्त छिपकर सुन रहा था जिससे उसका हृदय दहल गया। क्षण भर में उसे मुनिराजों के तपबल का स्मरण हो आया और वह विचार करने लगा कि कहीं क्रोधावेश में महाराज शाप न दे बैठें। निर्दोषी मुनिराज पर झूठा दोषारोपण किये जाने से वह बड़ा दुखित हुआ। उसके अश्रु बहने लगे, उसे अपने कृतकर्मों का सर्वाधिक पश्चाताप हुआ। वह शीघ्र ही अपने घर गया और चुराया हुआ वह रत्न जवाहरादि से भरा घड़ा लाकर सेठ जिनदत्त के समक्ष रख दिया। यह धन मुनिराज ने नहीं अपितु मैंने ही हरण किया था। मैं ही इसे ले गया था। मैं ही चोर हूं। इसका दंड मुझे ही मिलना चाहिये। पूज्य मुनिराज पर झूठा आरोप लगाना अच्छा नहीं है। "प्राणी धन के मोह में आकर यह भूल जाता है कि मैं किसके प्रति क्या कह रहा हूँ।" धिक्कार है उस धन को, जिसके कारण प्राणी की ऐसी बुद्धि हो जाती है और धिक्कार मुझे भी हो जो मैंने ऐसा कुकृत्य करने का साहस किया। वह मुनिराज के चरणों में गिर गया और अपने कृत्य की बार-बार निंदा करने लगा। वह कह रहा था कि है स्वामिन्! धन ही पाप का जनक, कलह का कारण तथा संसार का मूल है। हे प्रभो ! इसका वास्तविक परिचय मुझे आज हुआ। निश्चित ही अब मैं इसका त्याग करता हूँ। यह लोभ को बढ़ाने वाला पापों का सरदार है। हे कृपा सिंधु। मुझे निर्ग्रंथ मुनि दीक्षा दीजिये जिससे कि मैं समस्त पापों का प्रक्षालन कर सकूं, हे करूणा निधे ! आप मुझ अधम का उद्धार करो।

जब सेठ जिनदत्त ने देखा कि वास्तव में मेरे धन को मेरे पुत्र ने चुराया था, तो वह भी अपनी अज्ञानता की निंदा करने लगा। हाय ! मैं व्यर्थ ही मुनिराज पर चोरी की आशंका कर रहा था, यह कितना बड़ा पाप, मैं बांध बैठा। मेरी अज्ञानता को धिक्कार है। मैं अपने पूज्य भगवंत स्वरूप निर्दोष गुरू पर इतने बड़े झूठे आरोप लगाने से भी नहीं चूका। यह सब धन का मोह का परिणाम है। वास्तव में, धनमोही प्राणी धन के आगे अपने पूज्य पुरूषों

को भी कुछ नहीं समझता। इत्यादि प्रकार से आत्मगर्हा करते हुये सेठ ने अपने कृत्य का प्रायश्चित एक मात्र निर्ग्रंथ दीक्षा ही समझा। उन्होंने वैराग्य भावना का गहराई से चिन्तन किया और मुनिराज से दीक्षा हेतु निवेदन किया। "धन्य हैं वे प्राणी जो पावन अवसरों का सदुपयोग कर आत्म कल्याण की ओर अपने कदम बढ़ाते हैं।" संसार शरीर और भोगों से विरक्त उनकी हार्दिक विशुद्ध दीक्षा की अभिलाषा एवं सामर्थ्य को देख मुनिराज मणिमाली ने उन दोनों पिता-पुत्र को निर्ग्रंथ दीक्षा दे आत्म कल्याण के मार्ग पर लगाकर उन पर महान उपकार किया। "धन्य है उन गुरूओं को जो संसार के दु:ख पूर्ण समुद्र से पतित प्राणियों को अपनी कल्याणमयी दृष्टि से तथा हस्तावलंबन दे उन्हें उससे निकाल कर पावन बना देते हैं।"

मुनिराज मणिमाली ने महाराज श्रेणिक से कहा कि – हे राजन् ! वे तीनों ही आपके यहाँ आहारार्थ आये थे। वे तीनों एक गुरू एवं दो शिष्य ही हम तीनों है। श्मशान भूमि में कपालिक द्वारा लगाई अग्नि से मेरे सिर में नसें खिंच गयी थी, जिसके कारण से मैं काय गुप्ति के पालन करने में असमर्थ रहा। महारानी चेलना ने मुझे त्रिगुप्ति धारी शब्द से संबोधित किया था। अत: काय गुप्तिधारी न होने से आपके यहाँ नहीं आया।

मुनिराज के मुख से यह हृदयस्पर्शी जीवन चरित्र सुनकर राजा श्रेणिक के हर्ष का पार नहीं रहा। उनकी जैन धर्म में प्रगाढ़ श्रद्धा हो गयी।

देखिये ! परिणामों का खेल, व्यक्ति विवेक के पूर्व क्या होता है और विवेक के पश्चात् क्या? वह विवेक के पूर्व अर्थात् अविवेक की अवस्था में स्वयं अपने आपके लिये अशुभ विचारों के इतने बड़े गड्ढे में डाल देता है कि जिससे कनकलना बहुत कठिन होता है। किन्तु विवेक के जाग्रत हो जाने पर उपाय खोज ही लेता है और फिर अपने अविवेक पूर्ण परिणामों का पश्चाताप कर उसे मूलत: धो देता है।

अत: हमें चाहिये कि हम अविवेक को उत्पन्न होने ही न दें ! जिससे कि परिणाम अशुभ बनें और यदि हो भी जाये तो उसे शीघ्र ही तिलांजली दें व विवेक से संस्कारित करें।

*****

३४. गर्भकाल में भी जन्मान्तर का प्रभाव

महाराज श्रेणिक के साथ महारानी चेलना का समय सानंद आमोद-प्रमोद में गुजर रहा था। कभी वे बड़े वैभव के साथ जिनेन्द्र भगवान की पूजा विधान करते, कभी मुनिराजों के धर्मोपदेश सुनते थे। कुछ दिनों में महारानी चेलना गर्भवती हुई। किन्तु उन्हें उन दिनों अशुभ स्वप्न दिखने लगे तथा अशुभ इच्छाएं होने लगी। जिससे महारानी चेलना की नींद एवं भूख कम हो गई। चिंताओं के कारण उनका शरीर कृश होने लगा। ''इच्छाओं की आपुर्ति ही चिन्ता की जननी है शनैः शनैः वे चिंता के रूप में परिणत हो प्राणी को तथा उसके शरीर को दह्यमान करती हैं'' गर्भस्थ बालक का प्रभाव निश्चित ही माता के परिणाम भी अधिकांशतः अशुभ ही होते है। महारानी चेलना के गर्भ में सुषेण का जीव आया था। पूर्व भव में सुषेण की श्रेणिक से शत्रुता थी। उसने प्रतिबदला लेने का निदान किया था। जिस दिन से उसका जीव चेलना के गर्भ में आया था, तभी से उसका उसके (चेलना) के मन में महाराज श्रेणिक के प्रति स्वाभाविक ग्लानि और उनसे विद्वेष होने लगा था।

किसी एक दिन राजा श्रेणिक ने रानी चेलना से उदासीनता का तथा कृशता का कारण पूछा। राजा की तीव्र जिज्ञासा देख महारानी चेलना के करूण स्वर में कहा कि है प्राणनाथ ! मैंने कभी भी आपको न स्वप्न में क्षतिग्रस्त देखा और न ही आपके प्रति कुविचार किया फिर भी न जाने आपके प्रति अशुभ भावनायें क्यों हो रही हैं? मेरे उदर में ऐसा कौन सा प्राणी आया है जिसके कारण मेरी ऐसी भावनायें हो रही हैं। मैं इसी कारण से चिंतित हूँ, दुःखी हूँ। मैंने समाधान के अनेक उपाय खोजे किंतु अभी तक किंचित भी समाधान नही हुआ। यही मेरी कृशता का तथा उदासी का कारण है। महाराज श्रेणिक ने कहा -हे प्रिये !भारतीय नारी की सदा से यह विशेषता रही है कि वह अपनी हर बात चाहे वह शुभ हो या अशुभ उसे अपने

स्वामी से नि:संदेह कहती है। फिर तुम क्यों अपनी वात मुझ से छिपाती हो? कहो क्या बात है?

तब रानी चेलना ने कहा– हे नाथ !मेरी जैसी हठभागिनी ने आज रात्रि में गर्भस्थ बालक द्वारा अमंगल देखा है। यद्यपि मै अपना दोहद(दोहला)नही बताना चाहती हूँ जब से मेरे उदर मे बालक आया है तब से मेरी एक मात्र यही भावना हो रही है कि मैं आपके विदीर्ण ह्रदय से बहता हुआ रक्त देखूं। इत्यादि कह रानी विलख–विलख कर रोने लगी । तब महाराज श्रेणिक ने विस्मित हो रानी को धैर्य बंधाया एवं तत्काल अपने नख से अपना वक्षस्थल विदीर्ण कर बहता हुआ रक्त दिखाकर रानी को संतुष्ट किया। कुछ समय पश्चात् महारानी चेलना ने एक पुत्र को जन्म दिया । पुत्र का नाम कुणिक रखा गया।द्रव्य का द्रव्यांतर पर कितना प्रभाव पड़ता है। यह इस दृष्टांत से स्पष्ट जाना जा सकता है। महारानी चेलना का महाराज श्रेणिक पर कितना गहन प्रेम था वह स्वप्न मे भी महाराज का अहित नही देखना चाहती थी, किन्तु बालक कुणिक के बैर का गर्भ से ही परिचय होने लगा था। बलात्(जबरदस्ती) ही महारानी चेलना के हिंसात्मक विचार महाराज श्रेणिक के प्रति होने लगे थे। यही निमित्त का प्रभाव है। तीर्थंकरों के प्रभाव से जन्मजात बैरी पशु पक्षी अपने–अपने वैर को भूल जाते हैं छ: ऋतुओं के फल फूल भी उस समय वृक्षों पर आ जाते हैं। यह मात्र अतिशयोक्ति नहीं अपितु सत्य बात हैं। हाँ !निमित्त कभी भी उपादान का कार्य नही

करता और न ही उपादान निमित्त का। किन्तु कार्य सिध्दि में दोनों के अपने–अपने में पूर्ण स्थान हैं। एक दूसरे के विना वे दोनों अधूरे हैं । यहां तक ही नहीं वे कारण भी नहीं कहे जा सकते हैं। आगम के इस सत्य को हमें बड़ी चतुराई से स्वीकार करना चाहिए। इसके प्रति किंचित् भी अन्यथा श्रध्दा ,भवबीज का अंकुर और मिथ्यात्व की प्रथम सीढ़ी ही सिद्ध होगी।

अत: हमे चाहिये कि हम आगम के हर रहस्यों को गहराई से समझे ,उसे स्वीकार करें, किसी के कुतर्कों को सहसा स्वीकार ना कर वैठे। और ना उसमे हां मे हां भरकर उसको मिथ्यात्व की ओर प्रोत्साहन दें।

*****

३५. बैर के दर्शन बचपन में

सूर्य की किरणें निश्चित ही सूर्य का परिचय देती है।अग्नी की उष्णता अग्नि का परिचय देती हैं। नदी की बाढ़ वर्षा का परिचयदेती हैं,ठीक इसीतरह व्यक्ति की आकृति ,भाषा एवं प्रकृति उसके हृदय का परिचय देती हैं कि उसका हृदय कैसा हैं? कौन कैसा है क्या चाहता है?

महारानी चेलना ने कुछ ही दिनों में पुत्र प्रसव किया। किन्तु पुत्र चढ़ी भौंह, दबी चमड़ी (ओंठ), बंधी मुट्ठी की आकृति सबको विस्मयकारी थी। यद्यपि राजपुत्र का जन्मोत्सव सारे नगर में मनाया गया। धूमधाम से मिष्ठान्न वितरण, वाद्यध्वनि एवं मंगल गीत गाये गये। पुत्र के जन्म से महाराज श्रेणिक फूले नहीं समा रहे थे। उनकी प्रसन्नता की कोई सीमा न थी। नवजात शिशु को देखने हेतु वे शीघ्र उठकर अपने हाथ में ले लिया और प्रेम भरी निगाहों से उसे देखने लगे, उसे खिलाने लगे। "पुत्र प्राप्ति का वास्तविक आनंद तो उसके सच्चे माता-पिता ही ले सकते हैं किन्तु यहीं से उसके प्रति मोह के संस्कार अंकुरित होने लग जाते हैं जो कि कालान्तर में बड़े एवं सुदृढ़ हो जाते हैं।

महाराज श्रेणिक पर बालक की दृष्टि पड़ी किन्तु उन्हें देखते ही उसे पूर्व बैर का स्मरण हो गया जिससे बालक की क्रोध पूर्ण मुद्रा हो गई। यद्यपि बालक शैशव अवस्था में अबोध होता है। किन्तु वह बालक अपने आप में एक अनोखा ही था। उसने महाराज श्रेणिक को देखते ही आंखे पूर्णत: उघाड़ लीं, भौंहे चढ़ा लीं, बड़े जोर से चबड़ी दाब ली, नन्हीं-नन्हीं मुठ्ठियों को सुदृढ़ कर आक्रोश एवं आक्रमण की मुद्रा में सहसा घुमाने लगा। महारानी चेलना भी बालक की इस चेष्टा को एकाग्रता से देख रही थी। देखते ही देखते वे

सहसा घवड़ा उठी। भावी अनिष्ट की आशंका से उनका हृदय कांप उठा। उन्होंने अपने हृदय को पत्थर का वना दिया। मोह और ममता को तिलांजली दे दी और उस पुत्र को गुप्त रूप अनुचरों द्वारा वन में छुड़वा दिया।

जव महाराज श्रेणिक को उक्त समाचार मिला तो उन्हें वड़ा विस्मय हुआ। उनकी ममता ने उन्हें आघात पहुंचाया। उन्होंने सेवकों को भेजकर तत्काल वन से शिशु को गुप्त रूप से मंगवाया एवं सद्यः प्रसूत एक धाय को लालन-पालन हेतु सौंप दिया। पुत्र का नाम कुणिक रखा गया।

देखो! कर्म की विचित्रता, कहां तो शिशु पर पूर्व जन्म के वैर भाव का प्रभाव और महाराज श्रेणिक में उस पर पितृ वात्सल्य भाव की गहरी छाप। जिस पुत्र के हाथों उनका मरण निश्चित है उस पर भी अनुपम प्रेम। अहो संसार की मोहदशा, कितनी विचित्र है। ठीक ही है सज्जन पुरूष सज्जन ही होते हैं और दुर्जन, दुर्जन ही। दोनों के लक्षण पालने में झूलते हैं। किन्तु यह सव संस्कार पूर्वभव में किये गये कार्य या भाये गये भावों का है जो जन्मान्तर तक चलते रहते है।

अतः हमें चाहिये कि किसी के प्रति भी कभी किंचित भी बैर न रखें। क्यों कि थोड़े समय की भी वैर परलोक तक का टिकिट कटा लेता है। और फिर वह अनेक भवों का वीज वन जाता हैं।

*****

३६. पितृ भक्ति

महारानी चेलना ने कुणिक के पश्चात् वारिषेण, हल्द ,विदल एवं जितशत्रु को जन्म दिया। वे सभी पुत्र वीर पराक्रमी एवं धर्मात्मा थे। कुछ दिनों पश्चात महारानी चेलना फिर गर्भवती हुई । स्त्रियों की एक ऐसी अवस्था हैजो निश्चित ही गर्भस्थ बालक के लक्षणों का संकेत करती हैं। महारानी चेलना को अब अच्छे स्वप्न दिखे तथा शुभ इच्छाऐं हुई ।एक दिन रात्री के अंतिम प्रहर में उन्हो ने स्वप्न देखा कि –''ग्रीष्म ऋतु में हो रही शीतल वर्षा के अवसर पर हाथी पर आरूढ़ हों चारों दिशाओं में भ्रमन करूँ।''अब क्या था महारानी स्वप्न को साकार करने के उपायों मे गोते लगाने लगी। वें सोच रही थी जब मैं स्वप्न को साकार करूँगी तब मुझे कितना अपार आनंद होगा।निश्चित् ही उस समय में प्रकृति के आनंद का दीर्घ काल तक आस्वादन करूँगी। किन्तु उस अवस्था की प्रप्ति असंभव जान वे मौन ही रही। उन्होनें अपने मन की बात किसी से नही कही ।किन्तु मल ही मन चिंताओं की ज्वाला मे जलने लगी। ''जिस कार्य की तीव्र उत्कंठा होती हैं प्राय: वह कार्य हर क्षण दृष्टिगोचर होता है, फिर भुलाने से नही भूलता''महारानी चेलना भी ठीक इसी अवस्था मे थी। वे इस कारण से दिन प्रतिदिन कृश होती जा रही थी।

किसी एक दिन महारानी की कृशता एवं मलिन मुखाकृति देख महाराज श्रेणिक ने महारानी से अपनी मनोव्यथा व्यक्त करने का आग्रह किया। महाराज श्री के स्नेहपूर्वक बार–बार पूछने पर महारानी चेलना ने कहा–हे नाथ! इस बार मेरे मन में ऐसा दोहला हो रहा हैंकि ''मैंग्रीष्म ऋतु में बरसते हुए जल में हाथी पर आरूढ़ हो चारों दिशाओं का अवलोकन करती हुईपृथ्वी पर भ्रमण करूँ, और दीर्घ काल तक प्रकृति के इस आनंद का पान करूँ। किंतु हे स्वामिन !इस इच्छा की आपूर्ति रूपी दावाग्नि मुझे प्रतिक्षण दग्ध कर रही हैं। इसी कारण मेरी निद्रा और भूख समाप्त हो गयी है जिस से मेरा यह शरीर प्रतिदिन कृश होता जा रहा है।

महाराज श्रेणिक महारानी चेलना की इस अभिलाषा की पूर्ति के उपाय खोजने लगेकिन्तु कोई उपाय नही मिला। उसी समय वहाँपर अभयकुमार उपस्थित हुए। उन्हों ने माता पिता को सविनय नमस्कार कर ललित भाषा में उनकी चिंता का कारण पूछा।

पुत्र अभयकुमार के आग्रह को देख श्रेणिक राजा ने कहा–पुत्र ! चिंता का कारण महारानी का दोहला है। ऐसा कोई उपाय नही नजर आ रहा हैं जिससे दोहले को पूर्ण किया जाए। अभयकुमार ने कहा–हे तात् ! वह दोहला क्या हैं? माता श्री की क्या इच्छा हैं ? आप मुझे कहें मैं अवश्य ही उसकी पूर्ति कर कोई उपाय खोजूंगा।

श्रेणिक ने कहा –पुत्र उसकी पूर्ति संभव नही है। अभयकुमार ने कहा– पिताश्री ! वीर पुत्रों को हर बात संभव होती हैं। उन्हें गुरूकुलों में कोई भी बात असंभव है ऐसा नही पढ़ाया जाता है। विश्वास दिलाता हूं कि मैं हर संभव कार्य को संभव करके रहूंगा। आप संकोच न कीजिये निःसंदेह मुझसे कहिये मैं अवश्य ही उसकी पूर्ति का उपाय निकाल कर आपको प्रसन्न करूंगा। पुत्र की विशेष जिज्ञासा देख उन्हों ने दोहले को सविस्तार कह दिया । तब अभयकुमार ने कहा– मैं अवश्य ही इसे अविलंब पूर्ण करूंगा। पिताश्री आप जरा भी चिंता न करें इत्यादि कह कुमार अपने महल पर गये और एकांत मे सोचने लगे कि यह कार्य किसी दैविक शक्ति से ही संभव है। ऐसा विचार कर वे श्मशान की भूमि की ओर बढ़ गये। अर्ध्दरात्री का समय था विकराल काली रात्रि थी किन्तु कुमार बढ़ते ही गये। वहां वायुवेग विद्याधर से भेट हुई। "पुण्यात्मा के हर कार्य सफल हो जाते हैं" उन्हो ने विद्याधर की सहायतासे विद्या सिध्द की जिस के प्रभाव से उन्हों ने महारानी चेलना के दोहले को सानंद पूर्ण किया।

कुमार के पराक्रम को देखकर महाराज श्रेणिक बहुत प्रसन्न हुए।महारानी चेलना के भी आनंद का कोई पार नही था। कालांतर मे उन्हो ने एक वीर पराक्रमी मेधावी पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम राजकुमार रखा गया। अभयकुमार की पितृभक्ति अपूर्व ही थी। जब कभी किसी आपत्ति या संकट के उपस्थित होने पर या किसी भी वस्तु की आपूर्ति से विव्हल पिता को चिंतित देखा, तुरंत ही उन्होंने कारण का पता लगाकर सहर्ष अविलंब उसे हल कर उन्हें प्रसन्न किया एवं एक अनूठा ही यश पाया।

सभी को चाहिये कि अपने माता पिता की इसी प्रकार से सेवा कर पितृभक्ति का परिचय दें।

*****

३७. परस्त्री हरण

अभय कुमार के श्मशान में जब वायुवेग विद्याधर से भेंट हुई थी तब उन्होंने उससे मिष्ट शब्दों में पूछा था – कि हे बंधु ! तुम कौन हो ? तुम्हारा परिचय क्या है? तुम किस मनोरथ की सिद्धि हेतु साधना कर रहे हो? इत्यादि। अभय कुमार के मिष्ट वचनों से वायुवेग विद्याधर के हृदय में विश्व बंधुत्व की भावना उमड़ पड़ी। मिष्ट वचनों में ऐसा जादू होता है जो शत्रु के भी हृदय को पिघला देता है। उसने सस्नेह अभय कुमार से कहा – हे कुमार ! मेरी आत्मकथा विचित्र है, किन्तु आपकी सस्नेह जिज्ञासा देख मैं कहता हूँ – मैं उत्तर विजयार्द्ध पर्वत पर स्थित गमन प्रिय नगरी का विद्याधर राजा हूँ। मेरा नाम वायुवेग है। किसी एक दिन मैं विजयार्द्ध पर्वत पर स्थित अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दना हेतु वहां गया था। मेरे साथ अन्य विद्याधर नरेश भी गये थे। वहाँ मैं जिनदर्शन एवं अर्चना के पश्चात् बाहर निकला तब मुझे वहां बलाकपुर नरेश की कन्या सुभद्रा दिखाई दी। उसके रूप सौंदर्य को देखते ही मैं विह्वल हो गया। उसके बिना मुझे सारा जीवन मृत लगने लगा। मेरी सुधबुध खो गई। तब मैं उसको बलात् हरण कर राजमहल मे ले गया। और इससे इच्छित भोगता हुआ आनंद से रहने लगा। किंतु हे कुमार ! काम को धिक्कार हो !! कामासक्त प्राणी एक काम की पूर्ति में सेंकड़ों पाप करने में भी नही चूकता। वह उस समय इतना विवेक शून्य हो जाता हे कि राई बराबर सुख के लिए मेरूवत दु:ख को सहर्ष स्वीकार कर लेता है। किंतु अंत में पश्चाताप कर लेता है, रोता है, चिल्लाता है। आज मेरी यही दशा हो रही है। सुभद्रा हरण की इस वार्ता को किसी सखी ने बलाकपुर जाकर सुभद्रा के पिता को सुना दिया। समाचार सुनते ही वे ससैन्य आकाशमार्ग से गमनप्रिय नगरी आ गये। और नगर को चारों ओर से घेर लिया तथा आक्रमण प्रारंभ कर दिया। मैं भी अपनी सेना सहित युद्ध स्थल पर उपस्थित हुआ। दोनों

सेनाओं में घमासान युद्ध हुआ। अंत में सुभद्रा के पिता ने मेरी समस्त विद्याऐं नष्ट कर दी। तथा सुभद्रा को भी छीन लिया। विद्याओं के अभाव में मैं भूमिगोचरी सदृष हो गया। मैं शोक से आकुलित चित्त हो भटक रहा था। एक दिन मुझे एक नैमित्तिक मिला। उसने मुझे बारह वर्ष में विद्या सिद्धि का आश्वासन देते हुये एक मंत्र दिया था। किंतु ध्यान की एकाग्रता के अभाव में पूर्ण समय तक साधना करने पर भी मैं उसे सिद्ध करने में असमर्थ रहा। ''चलचित्त प्राणीके हर कार्य असिद्ध होतें हैं।'' अब मैं उदास हो अपने नगर की ओर लौट रहा हूँ। यह सुन कुमार ने कहा – हे मित्र ! तुम वह मंत्र मुझे सिखा दो। विद्याधर ने वह मंत्र विधिपूर्वक अभयकुमार को सुना दिया। पूर्वपूण्योदय से अभयकुमार के सहयोग से वायुवेग को भी विद्या सिद्धि में सफलता मिल गई। अर्थात् मंत्र सिद्ध हो गया। पश्चात् दोनों परस्पर सस्नेह विदा लेकर अपने-अपने स्थान की ओर चले गयें।

देखिये ! परस्त्री हरण यह एक ऐसा महापाप है जिसके करने से विद्याधरों की भी सारी विद्याऐं क्षीण हो जाती हैं और फिर वे बड़े परिश्रम से भी सिद्ध नहीं होती है। यद्यपि यह सब ज्ञान विद्याधरों को रहता है। फिर भी मोहासक्ति या विषयासक्ति में सबकुछ भूल जाते है। उस समय उन्हें इतना भी ध्यान नहीं रहता है कि हम जो कार्य कर रहे हे अंत में उसका परिणाम क्या होंगा? ठीक भी है यदि प्राणी को विषयासक्ति के समय इतना ध्यान रहे तो फिर वह विषयासक्त हो परस्त्री हरण जैसे अगम्य अपराध कैसे कर सकता है।

अत: हम कोई भी कार्य क्यों न करे किन्तु प्रथम उसके विषय में अच्छी तरह से सोचे, उसके परिपाक (परिणाम) फल को अपने ज्ञानबल से देखें, जाने और फिर अनुचित का त्याग कर उचित को ग्रहण करे। सत्यापथानुगामी बने।

*****

३८. रात्रि भोजन त्याग

राजगृह नगर के विपुलाचल पर्वत पर भगवान महावीर स्वामी के समवशरण के मंगल आगमन का सुखद समाचार सुन महाराज श्रेणिक के आनंद का पारावार नहीं रहा। उन्होंने वंदनार्थ चलने की नगर में घोषणा कर दी। जिसे सुन कर नगर के धर्म श्रद्धालुओं कि बड़ी भीड़ तैयार हो गई। महाराज श्रेणिक ने उन सबके साथ अपने परिवार सहित धूम-धामसे प्रस्थान किया।

सभी ने बड़ी प्रसन्नता से वहाँ पर पहूँचकर तीन परिक्रमा दी। तथा भगवान को नमस्कार कर पूजा की। पश्चात् अपने-अपने स्थान पर बैठ गये। सभी ने भगवान की दिव्य ध्वनि से नि:सरित दिव्योंपदेश का पान किया। पश्चात् गौतम गणधर ने प्रथमानुयोग की धार्मिक नैतिकता से युक्त पौराणिक कथाऐं सुनाकर सभी के मन को धर्म की ओर आकृष्ट कर प्रसन्न किया।

इसी बीच अभयकुमार ने अपने पूर्वभव को जानने कीजिज्ञासा प्रकट की। गौतम गणधर ने सहर्ष कहना प्रारंभ किया ।

हे राजकुमार! इस भारत वर्ष के रेणुतट नगर मे रूद्रदत्त नामक एक ब्राम्हण रहता था। वह बड़ा मूर्ख था। किसी समय वह तीर्थयात्रा के हेतु जा रहा था पैदल चलते-चलते वह उज्जयिनी नगरी मे पहूँचा। वहाँ धर्मात्मा अर्हद्दास के गृह मे जाकर रूका। उसने सेठानी जिनमति से रात्रि भोजन की याचना की किंतु सेठानी जिनमति ने रात्रि में भोजन देने की असमर्थता प्रकट की और कहा- हे विप्र! सूर्य के अस्त हो जाने पर अंधकार और शीतलता प्रकट हो जाती है जिससे अनेक जीव जंतु उत्पन्न हो जाते हैं। वे जीव भोजन और पानी आदि सामग्री मे मिल जाते है। जिससे वह भोजन ,भोजन नही रहता अपितु वह मांस हो जाता हैं। क्योंकि वह अनेक जीवों के कलेवरों से संयुक्त हो जाता हैं। तथा वह जल (पेय) जल नही रहता हैं वह

खून हो जाता हैं। क्योंकि वह अनेक जीवों से युक्त हैं। अतः हे विप्र! रात्रि मे भोजन करना

मांस खाने के समान है और जल पीना खून पीने के समान है।धर्मात्मा प्राणी दया की मूर्ति स्वरूप होता है। वह अपनी तुच्छ क्षुधा की पूर्ति के लिए अनन्त जीवों को हनन कर उसे खाना स्वीकार नही करेगा। वह दूसरे जीवों की प्राण रक्षा के लिए अपने वड़े से वड़े कष्ट को भी कष्ट नही गिनता। तव तो फिर ये क्षुधा संवंधीतुच्छ कष्ट हैं। जव हम किसी स्वार्थ या पराधीनता वश अनेक दिन की भूख को भी सहन कर लेते हैं तव फिर धर्म के लिए हमें इस कष्ट को सहर्ष समता से स्वीकार करना चाहिए। अतः आप रात्रि मे भोजन न कर दिन मे ही भोजन करें। कल दिन में भोजन हेतु आपका मैं निमन्त्रण करती हूँ।

सेठानी जिनमति के इन प्रभावक वाक्यों की अपूर्व ही छाप व्राम्हण पर पड़ती है। उसने उस दिन ही नही अपितु जीवन पर्यंत रात्रि मे भोजन ना करने की प्रतिज्ञा ले ली। और सेठानी का वहु उपकार मानता हुआ अपने स्थान पर चला गया, एवं प्रसन्नता से रात्रि पूर्ण कर सूर्योदय के पश्चात् सेठानी जिनमति के गृह आया। सेठानी ने उसे वड़े स्नेह से मिष्ट भोजन कराया। विवेकी व्यक्ति को भी चाहिए कि कैसी भी परिस्थिति उपस्थित हो जाए किन्तु रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग अवश्य करें।

देखियें!संसार मे यद्यपि भले आदमी मिलना कठिन है,किन्तु इसका मतलव असंभव नहीं। क्योंकि वे विद्यमान हैं,जो जन मानस को नित्य ही कल्याण पथ के दर्शन कराते हैं और उस पर चलने की राह दशति हैं उनके द्वारा वतलाये गये रास्ते पर

चलकर प्राणी अनेक दु:खों से वचकर अपने जीवन को सुखमय वना लेता है।

अतः हम सभी को चाहिए कि हम भी अपने जीवन में कोई ऐसा व्यक्ति खोजे और अंत तक उसका सहारा लेते रहे जो हमे स्वयं पथदीप वनकर चलने के लिए हस्तावलंवन देता रहे।

*****

३९. देवमूढ़ता

जो धर्मनिष्ठ प्राणी अपनी निष्ठा मे स्वयं सद्दढ़ रहते हैं वे अपनी निष्ठा की गहरी छाप दूसरों पर भी छोड़ देते हैं। वे किसी से कुछ कहते नहीं अपितु उनकी चर्या से अनन्यजन स्वयं प्रभावित हो उस ओर खिंच जाते हैं। तादृश्यता को प्राप्त करने के लिए लालायित हो जाते हैं और लालायित ही नही अपितु वे उस रूप में स्वयं ढ़ल जाते हैं।उसके बिना फिर उन्हें एक क्षण भी चैन नही पड़ता । सेठानी जिनमति के उपकार का बार-बार स्मरण करता हुआ,भोजन कर रूद्रदत्त ने प्रस्थान किया।

रूद्रदत्त किसी श्रावक के साथ गंगा स्नान हेतु आगे बढ़ा ही था कि उसे रास्ते में एक पीपल का वृक्ष मिला, जिसे देख उसने उसे नमस्कार किया तथा प्रदक्षिणा दे स्तुति करने लगा। यह देख साथ में चल रहा सेठ सोचने लगा। संसार की इस अज्ञानता को धिक्कार हो। प्राणी दूसरों के कहने पर कैसे विश्वास कर लेता है। देव क्या कभी एकेन्द्रिय हो सकता है। यदि हाँ तब तो वह सर्वशक्तिमान होना चाहिये। वह ग्रीष्मकाल में क्यों शुष्क हो जाता है? उसके पत्ते क्यों झड़ जाते है? लोग उसे काट देते है या जानवर उसे खा लेते है तो भी वह उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ पाता है। यह सब जानते हुए भी अज्ञानी व्यक्ति उसे देव या धर्म कहते हैं।

सेठ ने रूद्रदत्त से कहा - हे रूद्रदत्त ! तुम यह क्या कर रहे हो? रूद्रदत्त ने कहा - हे सेठ ! यह बोधिवृक्ष है। इसमें भगवान विष्णु का वास रहता है। यदि यह चाहे तो हमारा हित-अहित सब कुछ कर सकता है। तब सेठ ने उससे कहा कि यदि वृक्ष पर विष्णु का वास है तो फिर तुम्हारी शेषनाग की कल्पना व्यर्थ है और यदि उनका शेषनाग पर वास है तो फिर पीपल के वृक्ष पर वास करने की कल्पना व्यर्थ है।

हे रूद्रदत्त ! निश्चित ही इस वृक्ष पर विष्णू का वास नहीं है और न कोई भी वृक्ष किसी का हित या अहित कर सकता है। यदि तुझे विश्वास नहीं

है तो देख – सेठ ने शीघ्र ही उस वृक्ष के पत्ते और डाले तोड़ी तथा उसे पैरों से कुचल कर उस पर बैठ गया और कहने लगा – यदि कोई भी विष्णु इस वृक्ष पर हो तो आकर मेरे समक्ष उपस्थित हो। उसे अपने मन में सुदृढ़ विश्वास था कि कोई वृक्ष न देव होता है न विष्णु।

अतः बहुत समय व्यतीत होने पर भी न तो वहाँ कोई देव ही आया और न कोई सेठ का भी अहित कर सका। तब फिर सेठ ने रूद्रदत्त से कहा, कि हे रूद्रदत्त! देख इसने तो मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ा और न मेरे द्वारा बुलाये जाने पर स्वयं उपस्थित ही हुआ। कहाँ गया इसका देव? इत्यादि सेठ की वार्ता से रूद्रदत्त निरूत्तर हो गया। वह एक भी शब्द नहीं बोल सका। ''असत्य में इतनी शक्ति कहाँ जो सत्य को आवरणत कर सके, या दीर्घकाल तक सत्य की चादर ओढ़े रह सके। वह अवश्य ही कभी न कभी असली रूप में प्रकट हो जाता है।'' रूद्रदत्त पर यद्यपि सेठ के वचनों एवं चर्या का अपूर्व ही प्रभाव पड़ा। वह सत्य को समझा जरूर किंतु वह अपने देव का अनादर नहीं सह सका। उसे कष्ट हुआ। उसने उस समय उस सेठ से भी कहा मैं भी तुम्हारे देव को देखूँगा। इत्यादि वार्ता करते हुए वे आगे बढ़े।

देखिये! अज्ञानता के कारण व्यक्ति यह नहीं जाना पाता कि वास्तविक सत्य क्या हैं। हम जो कर रह है वह मात्र देखादेखी कर रहे है? या सत्य का परीक्षण कर हम उस सत्य के पथानुगामी बन रहे हैं। ठीक भी है। यदि इतना ज्ञान हो जाए तो फिर अज्ञानता कैसी रहेगी। फिर तो ज्ञान का प्रकाश होगा जिससे सत्य स्पष्टतः प्रतिभाषित होगा। पश्चात् करणीय और अकरणीय का निर्णय, अकरणीय का त्याग, करणीय के प्रति कदम बढ़ाना प्रारम्भ हो जाएँगे।

अतः हमें चाहिए कि हम अपने जीवन में प्रथम सत्य ज्ञान का दीप प्रज्ज्वलित करें फिर सत्य का निर्णय करें और फिर अकरणीय का त्याग कर करणीय पथ के अनुगामी बनें।

*****

४०. लोकमूढ़ता

अज्ञानता प्राणी को पता नहीं कितने अथाह और अपार दुःखसागर में डुबा देती है। अज्ञानमयी प्रवृत्तियों से प्राणी सोचता जरूर है कि मैं बहुत अच्छा और श्रेष्ठ कार्य कर रहा हूँ किन्तु उससे उसे किंचित भी सुख नहीं मिलता। यद्यपि वह उस कार्य को बहुत ही महान मानता है, उसे पूर्ण करने में बहुत श्रम करता है, समय भी लगता है किन्तु अंत में जब कुछ भी नहीं पाता है तब पश्चाताप करता है।

रूद्रदत्त यद्यपि सेठ के साथ गंगा तट पर पहुँच गया और बड़ी श्रद्धा भक्ति से स्नान करने लगा तथा अपने पितरों को तर्पण कर वहाँ से लौटा तो उसने देखा सेठ खाना खा रहे है। सेठ ने भी रूद्रदत्त को अपनी ओर आता देख झूठा भोजन दिखाते हुए कहा - अरे ! हे मित्र ! हे विप्र ! आइए !आइए !! लो ये भोजन करिए। तब ब्राह्मण रूद्रदत्त ने रूष्ट हो कर्कश स्वरों में कहा - रे दुष्ट ! अधम !! अपना झूठा भोजन मुझे दिखा रहा है। क्या मैं तेरा उच्छिष्ट भोजन करूँगा? क्या मैं इतना भूखा हूँ ? सेठ ने कहा - यह भोजन गंगाजल से पवित्र हो गया है। निश्चित ही इसे आप खा सकते है।

विप्र - झूठा भोजन क्या पवित्र हो सकता है? क्या उसे खाया जा सकता है।

सेठ - यदि यह मेरा जूठा भोजन गंगा जल से पवित्र नहीं हो सका तो आपकी आत्मा कैसे पवित्र हो सकती है? यदि गंगाजल में स्नान करने से ही आत्मा पापों से मुक्त होने लगे तो जल में रहने वाले मगर मच्छ आदि सभी को मुक्त होना चाहिए था किन्तु उनका मोक्ष क्यों नहीं हुआ? क्या कारण है? हे रूद्रदत्त ! तुम यह निश्चित समझो गंगा स्नान करने मात्र से आत्मा पवित्र नहीं होती, अन्यथा बड़े-बड़े पापी व्यक्ति भी पाप करने के पश्चात् स्नान करने से निर्दोष हो जाएँगे और ऐसे व्यक्तियों को राजदण्ड भी नहीं मिलना चाहिये। किन्तु ऐसा तो नहीं देखा जाता पाप करने वाले भले ही गंगा में क्यों

न स्नान कर लें तो भी राजदण्ड भोगना ही पड़ता है।

अतः यह पूर्णतः सिद्ध है कि गंगा स्नान करने मात्र से आत्मा पवित्र नहीं होती अपितु आत्मा व्रत, नियम, संयम आदि से पवित्र होती है। ऐसा ही हमारे पूज्य मुनि, साधु-संतों ने कहा है और यही शास्त्रों में लिखा है। यदि आप गंगा स्नान मात्र से आत्मशुद्धि मानते हों तो फिर शास्त्रों के वाक्य, गुरूओं की वाणी सब व्यर्थ हो जायेंगे। यहाँ तक ही नहीं अपितु व्रत, नियम, संयम आदि का पालन भी व्यर्थ ही सिद्ध होगा। कोई व्रत, नियम, संयम आदि को धारण कर कष्ट क्यों सहेगा? क्यों दीर्घकालीन तपस्या आदि करेगा? यह पूर्ण रूपेण सिद्ध है कि आत्मा स्नानमात्र से ही नहीं अपितु व्रत, नियम, संयम, तप आदि से पवित्र होती है। सेठ के द्वारा सहेतु समझाए जाने का रुद्रदत्त पर गहरा प्रभाव पड़ा। उसने अपनी अज्ञानता का पश्चाताप किया और धर्म विषयक इस मूढ़ता का त्याग कर दिया।

देखिये - कोरी रूढ़ि से धर्म नहीं होता। हमें उसे समझने का पूर्ण प्रयास करना चाहिए। गहराई से उसकी सत्यता को खोजना चाहिये। यदि सत् शास्त्र और नीति से प्रमाणित होती है तो उसे स्वीकार करना चाहिये, अन्यथा नहीं। गीता में भी श्रीकृष्ण ने पाण्डवों को इस विषय में अच्छी तरह से समझाया है। यथा -

अब वह अज्ञानी नहीं रहा अपितु उसकी अब हर क्रिया विवेकपूर्ण होने लगी। वह अपनी हर प्रवृत्तियों एवं आस्थाओं को सत्य की कसौटी पर कस कर ही ग्रहण करने लगा। उसका जीवन ही धर्माचरण मय बन गया। उसने अपने जीवन के अंतिम दिनों में सभी प्रकार के आहार-जल का त्याग कर सन्यास ले लिया। वह एक मात्र भगवान का ही नाम जपता और अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करता था। अन्त में उसकी सल्लेखना सहित मृत्यु हुई जिससे वह मर कर देव हुआ। चिरकाल तक स्वर्ग के सुखों को भोग कर हे कुमार! आज तुम अभय कुमार के रूप में उपस्थित हुए हो।

*****

४१. यति हत्या

अभय कुमार के पूर्वभव समाप्त होते ही श्रेणिक पुत्र दन्ति कुमार ने गौतम गणधर से अपने पूर्वभव पूछे। गौतम स्वामी ने कहा – हे कुमार! इस वसुन्धरा पर दारूढ़ तिलक नामक एक वन है। वन अत्यन्त रमणीक था। उसमें सभी प्रकार के फल-फूल थे। उसके चारों तरफ घनी हरियाली थी। कई जगह वाटिकाएँ एवं तालाब भी थे। विभिन्न प्रकार के पशु-पक्षी उसमें विचरण करते थे। वहीं किसी एक वृक्ष के नीचे सुधर्म नामक एक मुनिराज घोर तपस्या कर रहे थे। उस वन का रक्षक एक देव था। उसे मुनिराज का ध्यान नहीं था और न ही उसे अनेक जीवों की हिंसा या कष्ट का ही ख्याल था। उसने क्रीड़ा करते हुए वन में आग लगा दी। देखते ही देखते वन आग से भभक उठा और उसमें अनेक पशु और पक्षियों का करूण क्रंदन होने लगा। वे यत्र-तत्र भागने लगे। किन्तु भागें कहाँ? चारों तरफ आग ही आग थी। अन्त में वे अपनी मौत की आहुतियाँ देते गए। आग अपनी द्रुतगति से बढ़ती जा रही थी। उसने मुनिराज तक को नहीं छोड़ा। यद्यपि आग से उनका सारा शरीर झुलसने लगा था किन्तु उनके चेहरे से समता की गहरी किरणें विकसित होने लगी थी। वे सोच रहे थे – किये हुए कर्मों का फल सभी को मिलता है। जो कर्म बांधे हैं वे कभी न कभी उदय में भी आ जाते हैं। निश्चित ही यह आग की ज्वाला के रूप में हमारे द्वारा किये गए पूर्व कर्म ही आ रहे हैं। यदि इन्हें हम समता से सहन करते जायेंगे तो अवश्य ही ये जड़-मूल से समाप्त हो जायेंगे। अन्यथा ये भविष्य के लिए अपना स्थान रिजर्व कर लेंगें। दूसरी बात यह है कि शरीर जल रहा है, कष्ट हो ही रहा है। चाहे इसे हम संक्लेशता या परवशता से सहन करें अथवा समता या स्वाधीनता से। यदि सहन करना ही पड़ेगा तो अच्छा है मैं इसे स्वाधीनता और समता से हँसते-हँसते सहन करूँ। वे सोच रहे थे जिस तरह संक्लेशता से सभी कष्ट ये पशु, पक्षी सहन कर रहे हैं। वैसी ही संक्लेशता, यदि मैं भी सहन करने लगूँ तो फिर मुझमें और पशुओं में क्या अंतर रहा? तथा मैंने परधीनता वश

अन्य भवों में कितने कष्ट सहन किये, जब कष्ट उपस्थित हो ही गया है तो मैं क्यों न इसे स्वाधीनता पूर्वक धर्मसाधना से युक्त होकर छोडूँ। निश्चित ही मुझे यह एक अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ है। अब मैं धर्म परीक्षा में उत्तीर्णता प्राप्त करूँगा। इत्यादि सोचते हुए वे ध्यानमग्न हो गए। और देखते ही देखते अग्नि की क्रूरतम तेज लपटों ने वीतरागी निर्दोषी मुनिराज को भस्मसात कर दिया। उनका सारा शरीर अग्नि में दग्ध हो गया। किन्तु समतामयी सल्लेखना के प्रभाव से उनकी आत्मा सोलहवें अच्युत स्वर्ग को प्राप्त हुई।

वनाग्नि समाप्त होते ही वनदेव उस निर्दग्ध वन में आया और उसकी दृष्टि मनुष्य के अस्थि पंजरों पर पड़ी। उसने अपने अवधि ज्ञान से जाना यह अस्थियाँ किसी मुनिराज की हैं जो मुझ अज्ञानी द्वारा लगाई गई आग से निर्दग्ध हो गये। ओह! इतना बड़ा पाप कर बैठा मैं। धिक्कार हो मुझे। मैंने पहले कुछ भी नहीं सोचा समझा। अब यति हत्या का कितना कठोर फल मुझे भुगतना पड़ेगा। इत्यादि प्रकार से यद्यपि उस देव ने बहुत पश्चाताप भी किया किन्तु फिर भी उसे उसी वन में हाथी होना पड़ा। ''पश्चाताप से कृत पाप का विपाक हलका जरूर होता है किन्तु समाप्त नहीं होता, उसे भोगना ही पड़ता है।''

देखिये! अन्य स्थानों में किया गया पाप का तो प्रायश्चित हो सकता है। वह प्रच गुरूओं के प्रसाद से धुल सकता है किन्तु गुरूओं के प्रति किया गया पाप कभी भी नहीं धुल पाता। देव ने पश्चाताप जरूर किया था किन्तु फिर भी उसे हाथी होना पड़ा।

अत: हमकों चाहिये कि यदि हम अपने गुरू की सेवा, भक्ति या प्रशंसा न कर सकें, या उनके कष्ट दूर न कर सकें तो कभी भी किसी भी स्थिति में उनकी निंदा, हँसी, अविनय या और भी प्रकार उन्हें किंचित भी कष्ट न दें। इसी में हमारी बुद्धिमानता है और यही श्रेष्ठ नीति है कि यदि हम अपनी आत्मा में लगी कर्म कलिमा को धो न सकें तो कम से कम और अधिक उसे लगाये भी नहीं।

*****

४२. धर्मात्मा एक हाथी

आष्टान्हिक पर्व का पावन अवसर था। जगह-जगह जिनमंदिरों में धूमधाम से पर्व मनाया जा रहा था। कोई व्रत, नियम, संयम आदि के व्दारा अपनी आत्मा को पवित्र कर रहा था तो कोई विधान और पूजनों से अपने आपको पवित्र कर रहा था। कहीं भजन और कीर्तन हो रहें थे तो कहीं जाप और ध्यान भी चल रहा था। यद्यपि मनुष्य नंदीश्वरव्दीप नहीं जा सकते है केन्तु फिर भी वें अपने-अपने स्थानिय मंदिरों में ही नंदीश्वरव्दीप की कल्पना किए हुए बड़ी भक्ति से पूजन अर्चन कर रहे थे।

देवों में अनेक अपूर्व अणिमा महिमा आदि विद्याएँ एवं ऋद्धियाँ होती हैं जिससे वे अनेक विस्मय युक्त कार्य भी करते हैं। उनमें इतनी शक्ति होती है कि यदि वे चाहे तो कुछ ही क्षणों में तीनों लोकों कें कृत्रिम एवं अकृत्रिम जिन मंदिरों की वन्दना कर सकते हैं। आष्टान्हिक पर्व तो वास्तविक देवों का ही पर्व होता है। वे स्वयं आठवें व्दीप नंदीश्वर जाकर प्रत्यक्ष रूप से बावन जिनालयों की लगातार आठ दिन तक जिनार्चना करते हैं।

यद्यपि अभी पर्व प्रारम्भ ही नहीं हुआ था तो भी देवी-देवताओं का उस ओर प्रयाण चालू हो गया था। दारूड़ वन के उत्तुंग शिखरों के उपर से उनके देवों की ओलियाँ नंदीश्वर व्दीप की ओर गुजर रहीं थी। उसी समय उक्त देव जो वनाग्नि से दग्धित मुनिराज का जीव था वह भी वहाँ से गुजरा। किन्तु उसकी दृष्टि उक्त हाथी पर पड़ी जिसने देव की पर्याय में वन में आग लगाई थी। हाथी को देख अच्युतेन्द्र देव को जाति स्मरण हो गया। अपने पूर्वभव की सारी घटनाएँ उसके स्मृति पटल पर ज्यों की त्यों घूमने लगी। फिर भी उसको क्रोध नहीं आया अपितु क्षमा ही उद्‌भूत हुई। अपकार की नहीं अपितु उपकार की इच्छा हुई। 'वे प्राणी धन्य हें जो अपकारी के प्रति भी उपकार की पवित्र भावना रखते है।' देव ने तुरन्त ही विक्रिया (विद्या) से अपना रूप परिवर्तित कर लिया। अब वह पूर्ववत् एक मुनि का भेष बना ध्यान मग्न हो गया। मुनिराज की प्रशान्त मुद्रा पर गजराज की दृष्टि पड़ी फिर उसने उन पर अपनी गहरी दृष्टि डाली किन्तु अब उसकी दृष्टि उनसे

उठी नहीं अपितु उसकी आँखों में अविरल अश्रुधारा बह रही थी। उसने मुनिराज को भक्तिभाव से नमस्कार किया तथा अपने अपराधों की क्षमा याचना की। ''पशु में भी ज्ञान की एक ऐसी शक्ति होती है जिसके द्वारा वह एक सज्जनोचित धर्मात्मा की भूमिका अदा करता है। किन्तु वे विरले ही पशु होते हैं।'' मुनिराज के रूप में देव ने हाथी को धर्मोपदेश दिया जिससे प्रभावित हो हाथी ने पांच अणुव्रत धारण किये और बड़ी दृढ़ता से उनका पालन करने लगा। अब उसने वृक्ष की डाली, पत्ते आदि तोड़ना भी उसे (वन के जीव को) कष्ट देना समझा, सूखे पेड़ के पत्तों से ही अपना उदर पूरण करना श्रेष्ठ समझा। उसने तालाब और नदी में प्रवेश करना भी बंद कर दिया। मात्र झरनों से निर्झरित जल से ही अपनी प्यास बुझाने लगा। वह इतनी सावधानी से चलता तथा बैठता था जिससे कि कोई जीव न मर जाये अथवा उन्हें किसी प्रकार का आघात न पहुँचे। इत्यादि प्रकार से शान्ति से अपना सन्तोषी जीवन आनंद से व्यतीत करने लगा।

किसी एक दिन उसने अपने जीवन की अन्तिम बेला निकट जान चारों प्रकार के आहार का त्याग कर सन्यास धारण कर लिया। वह धर्म का गहराई से चिन्तन करने लगा। कुछ दिनों में उसने बड़ी शान्ति से देह विसर्जन किया अर्थात् उसका समाधि सहित मरण हुआ। वह स्वर्ग में एक देव के रूप में उत्पन्न हुआ। व्रत, नियम, संयम के अचिन्त्य प्रभाव को देव प्रत्यक्ष अनुभव कर बड़ा प्रसन्न हो रहा था। गौतम गणधर ने कहा – हे दन्ति कुमार ! तुम उसी देव के जीव हो।

देखिए ! धर्म का प्रत्यक्ष प्रभाव। धर्म से युक्त एक तिर्यंच, धर्म रहित मनुष्य से भी श्रेष्ठ हो गया। उसका जीवन तिर्यंच रूप नहीं अपितु अब दिव्य देव के रूप में परिवर्तित होगया। धर्म के संस्कार इतने गहरे होते हैं जिनसे एक ही भव नहीं अपितु अनेक भव पावन हो जाते हैं और अन्त में फिर वे आत्मा को परमात्मा बना देते हैं।

*****

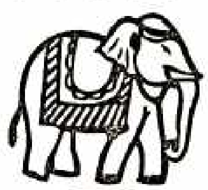

४३. सम्यक्त्व की परीक्षा

स्वर्ग में इन्द्र सभा लगी थी। सभी प्रकार के देव उपस्थित थे। उसमें अचानक ही महाराज श्रेणिक के सुदृढ सम्यग्दर्शन की चर्चा चल पड़ी। सभा में इन्द्र ने मगध नरेश श्रेणिक के सम्यग्दर्शन की तथा निर्ग्रंथ गुरू की अविचल श्रद्धा तथा भक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा की। ''सज्जनों की दृष्टि सदा धर्मात्माओं के गुणों पर जाती है जिससे फिर प्रसन्नता तथा प्रशंसा उनसे छिपाए नहीं छिपती।'' किन्तु दो देवों से वह सह्य नहीं हुई। उन्होंने परीक्षा द्वारा इसका निर्णय करना चाहा और वे देखते ही देखते वहाँ से मनुष्य लोक की ओर प्रस्थान कर गये। 'विस्मय है कि प्राणियों को विश्वस्त प्राणियों के सत्य वचनों पर श्रद्धा नहीं होती किन्तु इतने मात्र से कहीं सत्य, असत्य नहीं होता अपितु परीक्षा करने पर उनके वचन स्वयं ही सत्य साबित हो जाते है।'

दोनों देव राजनगर आ गये और जिस रास्ते से महाराज श्रेणिक वन विहार की ओर प्राय: निकला करते थे उसी रास्ते के किनारे एक तालाब पर उन दोनों ने अपना रूप बना लिया। एक मुनि के रूप में मछली जाल फैलाए तालाब में बैठ गया और दूसरा गर्भिणी आर्यिका के रूप में वहाँ बैठ गया। ''ये परीक्षा की घड़ियाँ थीं जो प्राय: अपने आपको थोथे सम्यग्दृष्टि कहने वाले बड़े-बड़े शास्त्र वेत्ताओं को भी हिलाने में समर्थ थी।'' किन्तु राजा श्रेणिक क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे। वे डिगे नहीं अपितु वे सम्यग्दर्शन में सुदृढ़ रहे। यद्यपि उन्हें बतलाया गया कि हे राजन। वे मुनि नहीं हैं वे पूज्य नहीं है, वे आदर के पात्र नहीं है, उन्हें देखना भी पाप है, आप वहाँ न जाएँ इत्यादि। किन्तु राजा श्रेणिक क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे। उनके रोम-रोम से सम्यग्दर्शन के आठों अंग झलक रहे थे। उन्होंने शीघ्र ही उपगूहन अंग का पालन किया और कहा नहीं! ऐसा कभी नहीं हो सकता है। आप लोग झूठ बोलते हैं। मुनिराज कभी भी ऐसे नहीं हो सकते हैं। आप लोग उनके विषय में कुछ नहीं कह सकते हो। श्रेणिक ने किसी की भी एक नहीं सुनी। वे आगे बढ़े और मुनिराज के निकट पहुँच गये। उन्हें एक मात्र मुनिमुद्रा दिख रही थी, जिसके प्रति वे श्रद्धानत् थे। उन्होंने मुनिराज को सहर्ष श्रद्धा और भक्ति से नमस्कार किया। किन्तु मुनिराज की उक्त प्रक्रिया को देख बड़ा विस्मय हुआ। अत: उन्होंने स्थितिकरण अंग का ही बड़ी सुदृढ़ता से परिचय देते हुए

कहा – हे पूज्य ! हे मुनिवर !! आप यह क्या कर रहें हैं? क्या आपके सर्वोत्तम भेष में यह निंद्यीय कार्य उचित है ? क्या यह हिंसा नहीं है? मुनि के भेष में देव ने कहा – दिखता नही क्या। वह सामने से गर्भ से पीड़ित आर्यिका बैठी है उसे मछली खाने की दोहला (तीव्र इच्छा) हो रही है। उसी की पूर्ति हेतु में मछली पकड़ रहा हूँ। ऐसा करने में किंचित पाप बंध नही होता है। क्योंकि मेरे व्दारा यह सब सम्भव हो सका है। अत: मेरा कर्तव्य हे कि मैं उसके दोहले को पूर्ण करूँ। राजा श्रेणिक ने बहुत समझाया और उन्हें वे अपने महल में ले गये। वहाँ पर भी सामंत गणोंने महाराज श्रेणिक को उक्त साधु-साध्वीको आश्रय देने से खूब रोका, तब श्रेणिक ने कहा – हे सामन्तो ! तुम लोग नहीं जानते हो मैंने नमस्कार किया। मैंने तो मात्र निर्ग्रंथ भेष को नमस्कार किया है, न कि इनकी निंदनीय क्रिया को। दूसरी बात यह है कि मैं इनके दोष न देख गुणों को देख रहा हूँ। मुझे गुण ही गुण दिख रहें हैं। अत: मैं पुण्य का ही भागीदार हूँ, पाप का नहीं। पाप जो करेगा या जिसकी दृष्टि में पाप होगा निश्चित ही वह पाप का भागीदार होगा। इत्यादि श्रेणिक के वचन सुनते ही मुनि भेषधारी देवों ने अपना भेष बदल लिया। वे अपने मूल भेष में प्रकट हुए और कहने लगे – हे राजन ! धन्य हे आप को ! निश्चित ही क्षायिक सम्यग्दृष्टि है। जो हम लोगों ने आपके निर्ग्रंथ गुरूओं के प्रति दृढ़ आस्था के विषय में सुना था उसे प्रत्यक्ष रूप से सत्य पाया। निश्चित ही आपकी गुरू भक्ति सुदृढ़ है, सराहनीय है। हम लोग तो आपकी परीक्षा हेतु ही आये थे। उसमें आपको पूर्ण उत्तीर्ण पाया। इत्यादि प्रकार से वे देव श्रेणिक की भूरि-भूरि प्रशंसा कर अपने स्थान की ओर प्रस्थान कर गये। सभी लोग महाराज श्रेणिक के विवेक एवं विश्वास की प्रशंसा करते हुये अपनी आस्था को मजबूत करने लगे। उन लोगों ने मुनिराज के प्रति जो अनादर की भावना की थी उसका बार-बार पश्चाताप करने लगे।

देखिये ! राजा श्रेणिक के निशंकित निर्विचिकित्सा, उपगूहन, स्थितिकरण, आदि अंगों को जिन्होंने एक ही दृष्टांत में आए अंगों की परीक्षा दी। वे अपने कदमो से ड़ीगे नही। और न कोई उन्हें ड़ीगा सका। उन्हें अविवेकी, अज्ञानी कहने वालों ने भी अंत में सत्य विवेकी एवं ज्ञानी कहाँ और स्वयं की ही अज्ञानता स्वीकार कर पश्चाताप किया।

अत: हमको चाहिये की हम सहसा अपने श्रद्धान को न खो बैठे। सम्यक्त्व इतना सरल नहीं है कि हम उसे चाहे जब छोड़कर फिरसे ग्रहण कर सके।

*****

४४. अभयकुमार का वैराग्य

एक दिन युवराज अभयकुमार को संसार की स्थिति देख विरक्ति हो गयी। वे विचार करने लगे हा ! मैंने अपने अमूल्य जीवन का सारा समय यूँ ही खो दिया। कल्याण का अभीतक कोई उपाय नहीं खोजा । जिस मोहजाल में अनादि से लिप्त रहा, क्या उसमें अभी भी लिप्त रहूँगा? क्या मेरी आयु यूँ ही समाप्त हो जायगी ?

नहीं! नहीं!! अरे आत्मन्, समय का कोई भरोसा नहीं कब आयु का अंतिम क्षण आ जाये। बुध्दिमत्ता तो इसी मे हैं कि तू अभी भी जागृत हो जा। छोड़ दे इस जग जंजाल को और लग जा तू साधना की आराधना में। संयम का दृढ़ निर्णय कर संकल्प लेकर वे अपने पिताश्री श्रेणिक महाराज के समक्ष उपस्थित हुये।'' मोक्षमार्ग कितना संकटों और कंटकों का मार्ग है जिस पर साधक बड़ी प्रसन्नता से चलता है। मोक्षमार्ग का तात्पर्य सांसारिक समस्त सुखों को तिलांजली देकर अनंत सुख की प्राप्ति हेतु अपने प्राणों को हाथ में लेकर हँसते-हँसते तलवार की धार पर चलना है। धन्य हैं वे वीर जो धर्म की साधना महलों के वास में नहीं अपितु वनों के वास में करते हैं। धर्म का वास्तविक आनन्द सांसारिक मायामोह में नहीं अपितु इससे विरक्ति में आता है।

युवराज अभयकुमार ने महाराज श्रेणिक को सविनय नमस्कार किया और चुपचाप खड़े हो गये। अभयकुमार के अचानक आगम और मौन मुद्रा को देख राजा श्रेणिक को बडा विस्मय हुआ। उन्होंने डबडबाती आंखों से एकटक कुमार को देखा और आसन से उठकर उनके निकट पहुँचे और पूछा - पुत्र ! कहिए तुम्हारा अचानक आना कैसे हुआ? तुम्हारे चेहरे पर उदासी क्यों नजर आ रही है? तुम किस चिन्ता में हो? क्या किसी ने कुछ कह दिया है या किसी वस्तु की तुम्हें इच्छा है? कहो, मैं उसे पूर्ण करूँगा। अभयकुमार ने विनय पूर्वक मिष्ट शब्दों में कहा - हे तात श्री ! संसार का वैभव क्या सदा-सदा के लिए साथ रह सकता है? क्या यह सुंदर शरीर छूटेगा नहीं? यह अपार वैभव क्या परभव में हमारे साथ जा सकता है? ये सभी प्रिय बन्धुओं का क्या कभी हमारे से वियोग नहीं होगा? यदि हाँ, ऐसा होगा ही तो

मैं इसमें क्यों रहूँ? अपने जीवन के अमूल्य समय को क्यों खोऊँ? क्यों न मैं कल्याण की कोई राह पकड़ लूँ। हे तात ! बस मैं आपसे आज्ञा लेने को आया हूँ। इतना सुनते ही महाराज श्रेणिक मूर्छा आकर धड़ाम से नीचे गिर पड़े। ''पिता का गिरना दनके वैराग्य की दृढ़तम परीक्षा थी। वैराग्य कहना अलग बात है, वैराग्य होना अलग बात है हार्दिक वैरागी के लिए संसार की कोई शक्ति नहीं डिगा सकती।'' शीतोपचार करने से महाराज श्रेणिक की मुर्च्छा समाप्त हुई वे उठे और रूदन करते हुए कहने लगे – हे पुत्र ! कल्याण का मार्ग सदा खुला रहता है वह कभी बन्द नहीं होता, आगे तुम कभी भी उसे अपना लेना। अभयकुमार – पिता श्री ! जीवन का कोई भरोसा नहीं है न जाने आयु कब समाप्त हो जाये। अत: उसके पूर्व ही अपने कदम आगे बढ़ा लेना ही मैंने श्रेयस्कर समझा है। कुटुम्बी मोह जाल चार दिन का है। मैंने इसे अच्छी तरह समझ लिया है और दृढ़ निर्णय कर ही आपके पास आया हूँ। अब मैं अवश्य ही संयम धारण कर कल्याण मार्ग में निरत होऊँगा। पुत्र की भीषण प्रतिज्ञा देख एवं उसे हल करने का अन्य कोई उपाय न देख वे फूट-फूट कर रोने लगे। उनके हृदय का बांध टूट गया। वे पुत्र वियोग में अनेक बार मूर्च्छित हुए। पिताश्री से आज्ञा ले अभयकुमार माता चेलना के निकट गए और प्रणाम कर उनसे भी कल्याण पथ पर बढ़ने की आज्ञा माँगी। पिता की उक्त अवस्था देख पाठकगण स्वयं अनुमान लगा सकते है कि माता की क्या अवस्था हुई होगी? इसी तरह वे अपनी स्त्रियों के निकट गये और उनसे भी स्वीकृति माँगी। वे भी चिर वियोग की वेदना से तड़फ उठी। किन्तु अभयकुमार ने किसी की किंचित भी परवाह न की। ठीक ही है – वैरागी के वैराग्य की भी यही परीक्षा है कि मोह का सारा करूणाजनक दृश्य उपस्थित होने पर भी वैराग्य से किंचित भी विचलित नहीं होना। वैरागी का हृदय मोह पर इतना निर्दयी होता है कि वह अपने साध्य के समक्ष इतना समर्पित हो जाता है कि फिर उसे विचलित करने के हर संभव प्रयास भी निष्फल हो जाते हैं। अभय कुमार के यद्यपि कुटुम्बी जन एवं प्रजाजनों ने भी खूब समझाया किन्तु अभय कुमार के सुदृढ़ वैराग्य पर किसी का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने सभी से क्षमा याचना की और विपुलाचल पर्वत पर स्थित महावीर स्वामी के समवशरण में जाकर निर्ग्रंथ मुनि दीक्षा ले ली।

*****

४५. वारिषेण का वैराग्य

राजकुमार वारिषेण महाराज श्रेणिक के पुत्र थे। उन्होंने मुनिराज की साक्षी में चतुर्दशी व्रत लिया था। वे प्रत्येक चतुर्दशी को उपवास कर रात्रि श्मशान में व्यतीत करते थे। सारी रात योगमुद्रा (खड़े-खड़े ध्यान जाप आदि में) पूर्ण करते थे।

किसी एक दिन वे चतुर्दशी की रात्रि में श्मशान में ध्यानस्थ थे। उसी नगर की एक वेश्या ने आपने प्रेमी विद्युतचर चोर से कहा के मैं तुझे सच्चा प्रेमी तब समझूँगी जब कि तू मुझे श्रीकीर्ति सेठ की पत्नी का हार लाकर देगा। यदि वह हार मुझे प्राप्त नहीं हुआ तो निश्चित ही तू मूझे मृत ही जानना। विद्युतचर ने कहा – इतनी सी बात पर विषाद क्यों? आज मैं वह हार लाकर तुझे देता हूँ। इतना कह वह अंजन लेप कर गुप्त रूप से रात्रि में सेठ श्रीकीर्ति के गृह में पहुँच गया। उसने चुपके से सोती हुई सेठानी के गले का हार निकाल लिया और हार लेकर भागा। किन्तु हार की चमक छिप नहीं सकी। नगर कोटपाल ने उसे देख लिया और उसका द्रुतगति से पीछा किया। चोर जब भागते-भागते थक गया और उसने जान लिया कि निश्चित ही अब कोतवाल मुझे पकड़ लेंगे। तब उसने श्मशान में ध्यानस्थ खड़े वारिषेण को देखा और शीघ्र ही वह हार उनके गले में डालकर छिप गया। ''पापी व्यक्ति पाप के छींटें निर्दोष प्राणियों पर उछालना चाहता है, किन्तु वैसा कर नहीं पाता है।'' कोतवाल ने वारिषेण के निकट आकर देखा और वारिषेण को पहचान वे अपने स्थान की ओर वापिस लौट आए। उन्होंने उक्त सारी घटना महाराज श्रेणिक को सुनाई और कहा कि महाराज जब स्वयं आपके राजकुमार ही चोरी करने लगेंगे तो न्याय किस पर जायेगा? महाराज श्रेणिक ने सभी बातों को एकाग्रता से सुना और कहा चलें इसका निर्णय हम स्वयं ही करेंगे। यद्यपि वे वारिषेण के धार्मिक स्वभाव को अच्छी तरह से जानते थे। उन्हें लोगों की बातों पर किंचित भी विश्वास नहीं था कि वारिषेण कभी ऐसा कृत्य कर सकता है। फिर भी वे वारिषेण के निकट परीक्षा हेतु उपस्थित हुए। उन्होंने दूर से ही वारिषेण को ध्यानस्थ मुद्रा में देखा तथा उनके गलें में

पड़ा हुआ हार भी देखा किन्तु वह स्वर्णहार वारिषेण के पुण्य से पुष्पहार रूप में परिणित हो गया था। जिसे देख महाराज श्रेणिक को बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने वारीषेण कुमार पर झूठा दोषारोपण करने वाले कोतवाल को बहुत डांटा और उसको वारिषेण कुमार से क्षमा याचना हेतु आदेश दिया।

इस सभी दृश्यों को पास में छिपा विद्युतचर चोर देख रहा था। उसे भी बड़ा विस्मय एवं भय था । वह सोच रहा था कि यह तो दैविक घटना है। यदि मैं स्वयं उपस्थित नहीं होऊंगा तो देव मुझे बलात् उपस्थित कर तिरस्कृत एवं दण्डित करेगा। अत: स्वयं ही उपस्थित होना श्रेयस्कर है। इतना सोचते ही विद्युतचर चोर महाराज श्रेणिक के समक्ष उपस्थित हो गया। उसने सारी घटना को स्पष्ट सुना दिया। और अन्त में कभी भी ऐसे अपराध न करने की क्षमा याचना की। अन्त में वारिषेण ने अपना ध्यान विसर्जन किया। महाराज श्रेणिक ने उनसे नगर चलने हेतु कहा किन्तु वारिषेण ने अब मेरा नगर लौटना संभव नहीं है। मैंने निर्ग्रंथ दीक्षा की प्रतिज्ञा धारण कर ली है। निश्चित ही अब मैं उसे पूर्ण करूँगा। यद्यपि श्रेणिक महाराज ने उन्हें बहुत समझाया किन्तु वारिषेण पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने मुनि श्री सूर्यदेव के निकट दीक्षा धारण कर ली और उत्कृष्ट तपों को धारण करते हुऐ समाधि सहित मरण कर स्वर्ग में देव हुए।

देखिये ! संसार की वास्तविक स्थिति का यथार्थ ज्ञान जब किसी को हो जाता है तो विरक्ति का जन्म उसके जीवन में सहज ही अवतरित हो जाता है, जो संयम को जन्म दे जीवन को कृतार्थ कर देती है। विरक्ति के साथ त्याग की गई वस्तुएँ साधक के मन को पा उसकी इष्ट आराधना को कभी डिगा नहीं सकती है। अपितु सबल बन गति देती हैं और साध्य प्राप्ति तक सहारा देती हैं।

अत: हमें चाहिये कि हम किसी भी त्याग के पूर्व उसके विषय में सोचे समझे और विरक्ति से भरें फिर त्याग करें, ताकि पुन: उस ओर हमारा लौटना संभव न हो सके।

*****

४६. कुपुत्र कुणिक

रात्रि का समय था। महाराज श्रेणिक पलंग पर लेटे थे। वे सोच रहे थे। अब मेरे सभी पुत्र बड़े हो चुके हैं। राज्य संचालन की उनमें पूर्ण योग्यता आ चुकी हैं। धर्म साधना का मुझे भी स्वर्णिम अवसर है। इत्यादि विचार करते हुए सारी रात्रि निकल गई। प्रात:कल उन्होंने मंत्रीगणों के समक्ष अपना विचार रखा। अपने अधीनस्थ अनेक राजाओं से भी परामर्श लिया। साथ ही अपने सत्य वचन का भी स्मरण रखा। क्योंकि – "सत्य राजा का प्राण होता है।" सत्य के लिए राजा अपने प्राणों तक के लिए भी न्यौछावर कर देता है। फलस्वरूप उन्होंने राजकुमार कुणिक को राजसिंहासन पर बैठाया और शुभ मुहूर्त की पावन बेला में उसका राजतिलक किया और स्वयं राजपाट से विरक्त शान्त-एकांत स्थान में धर्म साधना में संलग्न हो गये।

राजा कुणिक ने भी राज्य संचालक की बागड़ोर अपने हाथ में थामी और बड़ी कुशलता से उसका निर्वाह करने लगा। किन्तु किसी एक दिन राजा कुणिक को जाति स्मरण हो गया। उसे अपना पूर्वभव ज्यों का त्यों दृष्टिगोचर होने लगा वह सोच रहा था कि जब में अपने पूर्वभव में सुषेण नाम का मुनि था तब महाराज श्रेणिक सुमित्र राजा के रूप में थे। इन्होंने उस समय मुझे बहुत सताया था तथा मुझे पृथ्वी पर पड़ते हुए देख बहुत प्रसन्न हुए थे। इत्यादि स्मरण करते ही राजा कुणिक के क्रोध का पार नहीं रहा, उसकी आंखे लाल हो गईं, शरीर कांपने लगा। प्रतिशोध और बैर की भावना ने उसे घेर लिया। उसने क्रोधावेश में आकर महाराज श्रेणिक को काठ के पिंजड़े में बन्द कर लिया। राजमाता महारानी चेलना को जब बात का पता चला तब उन्हें बहुत दु:ख हुआ। दारूण दु:खों से संतापित उन्होंने कुणिक को बहुत समझाया। हर संभव प्रयास भी किये किन्तु उस अनाड़ी कुणिक ने उनकी एक भी नहीं सुनी, अपितु उल्टी उनकी ही उद्दण्डता पूर्ण अवमानना की। उसने उन्हें अनेक कटुवचन कहे और सामने से हटने को कहा। "वह

पुत्र – पुत्र नहीं है जिसने अपनी ममतामयी माता को माता नही समझा और पिता को पिता नही समझा वह पुत्र के रूप मे भी शत्रु है।" माता–पिता का ऋण सैकड़ो उपकार करने पर भी पुत्र कल्प काल में भी उसे अदा नही कर सकता। किन्तु कुणिक ने इस बात पर जरा भी विचार नही किया। क्रोधाग्नि सर्व प्रथम प्राणी की बुध्दि को भस्म कर देती है फिर उसे अपने कर्तव्य का ध्यान नही रहता ।

महाराज श्रेणिक को यह यत्किंचित रूखा सुखा कोदों का अनाज खाने को देता था। और खाते समय अनेक कठोर वचन बोलता था। इतना तिरस्कार किसीने भिखारी एवं जानवरों तक का न किया होगा।जितना कि कुणिक ने अपने पिता श्री श्रेणिक का किया था । लेकिन महाराज श्रेणिक बड़े ही गंभीर,धैर्यवान थे । वह हर कष्ट को अपने व्दारा पूर्वोपार्जित कर्म का फल समझकर शांत भाव से सह रहे थे। क्योंकि सम्यक्दृष्टि कर्म फल को शांत भाव से सहकर कर्मों की निर्झरा करता है और अज्ञानी रो–रो कर बंध करता है। श्रेणिक ने अपने क्रुर पुत्र की उद्दण्डता को हर प्रकार से क्षमा किया।

देखिये ! कर्मपरिपाक को महाराज श्रेणिक एक दिन राजगद्दी पर बैठे थे, और आज वें जेलकी यातनाऐं भोग रहें हैं, कहाँ वे सुन्दर छप्पन प्रकार के भोजन करते थे और आज उन्हें कोदोंका भोजन भी पेट भर नहीं मिल पा रहा है। यह सब पूर्वकृत कर्मों का ही फल है। प्राणी कर्म करते समय उसके अंतिम निष्कर्ष तक पहुँच जाता है। किंतु उदय आने पर पश्चाताप करता है। यह अवस्था उनकी ही नहीं, किंतु हमारी भी ऐसी ही अवस्था होती है।

अत: हमें चाहिये कि कोई भी कार्य करें किन्तु उसके फलों को पहले ही सोंचे तथा बुरे कर्मों से सावधान रहें, तथा अच्छे कार्यों के प्रति गतिमान रहें। यही हमारे ज्ञान का फल होगा।

******

४७. पुत्र स्नेह

एक दिन अनाचारी कुणिक जब भोजन कर रहा था तब उसकी गोंद में खेल रहे एक नन्हें शिशु ने पेशाब कर दी। पेशाब का कुछ अंश भोजन सामग्री में भी गिरा। बालक कुणिक के लिए सर्वाधिक प्रिय था। इसलिए उसे पेशाब मिश्रित भोजन से किंचित भी ग्लानि नहीं हुई। वह पूर्व की भांति भोजन करता रहा। "अधिक स्नेह भी व्यक्ति के विवेक को धूमि कर देता है जिससे फिर एसे भक्ष्याभक्ष्य का ज्ञान नहीं रहता। न लाज रहती है और न भविष्य में होने वाली क्षति का ध्यान।"

उसी क्षण राजमाता चेलना वहाँ आई। उन्हें देख कुणिक ने कहा – हे माता ! मेरे समान प्रगाढ़ पुत्र–स्नेही संसार में क्या और भी कोई है? राजमाता चेलना ने धिक्कारते हुए कहा – हे पुत्र ! ऐसा समझना तेरा एक मात्र भ्रम ही है। सभी अपने पुत्रों को अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय मानते है। तुम्हारा पुत्र स्नेह अप्रतिम नहीं है। वे उसे बचपन का संस्मरण सुनाने लगी। उन्होंने कहा – जगत प्रसिद्ध तुम्हारे पिता को भी अभयकुमार जैसे अनेक पुत्र थे। फिर भी उनका तुम्हारे से अत्याधिक प्रेम था। एक बार बाल्यावस्था में तुम्हारी अंगुली में एक फोड़ा हो गया था। वह बहुत पक गया था जिसकी तुझे असह्य पीड़ा थी। फोड़े की दुर्गन्ध से कोई तेरे पास नहीं आता था। राजवैद्यों ने यद्यपि यथासंभव फोड़े की पूर्ण चिकित्सा की किन्तु फिर भी उससे किंचित भी लाभ नहीं हुआ। तब तुम्हारे पिता ने स्वयं तुम्हारी उंगली चूस–चूस कर शनैः–शनैः पीप निकाली थी जिससे तुझे शीघ्र ही आरोग्य लाभ हुआ था।

माता के मुख से यह बात सुन कुणिक ने कहा – यदि मेरे पिता का मुझ पर इतना प्रेम था तो उन्होंने मुझे शैशव अवस्था में जंगल में क्यों छुड़वाया था। हे माता! क्या यही पुत्र स्नेह का आदर्श उदाहरण है? तब राजमाता चेलना ने कहा – हे पुत्र ! यह तुझे गलत भ्रांति है। निश्चित ही किसी ने तुझे गलत बताया है। वास्तविक बात तो यह है कि मैं तेरे जन्म से पूर्व ही अशुभ स्वप्नों एवं दोहलों से भयभीत थी तथा जन्मोपरान्त तेरी भयोत्पादक चेष्टाओं को देख मुझे यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि निश्चित ही भविष्य में तुम अपने पिता के प्रति महान शत्रु सिद्ध होगे। अतः अपने सुहाग की रक्षा हेतु मैंने ही तुझे जंगल में छोड़ा था। किन्तु जब तुम्हारे पिता को इस बात का पता चला तब उन्होंने ही तेरे लालन–पालन की पूर्ण व्यवस्था कर तुझे वीर एवं मेधावी बनाया। यदि उन्हें तुमसे द्वेष होता तो वे तुम्हें क्यों राजसिंहासन पर बैठाते और क्यों वे तुम्हें यहाँ का राजा बनाते? समस्त पुत्रों में तुम्हे सर्वोत्कृष्ट आदर देते थे। उनकी भविष्यक आशाओं एवं आकांक्षाओं के एकमात्र स्थान तुम्ही थे। किन्तु तुमने उनके साथ कैसी कृतघ्नता प्रकट की उन्हें पशुवत् पिंजड़े में बन्द

कर दिया। किन्तु इस वात का तुम ध्यान रखना कि इस कुकृत्य का परिणाम अवश्य ही तुझे कष्ट साध्य होगा। हे पुत्र! तू अभी भी सम्भल जा और अपने पिता को बंधन मुक्त कर उनके चरणों में गिर अपने अपराधों की क्षमा मांग। इत्यादि प्रकार से समझाने पर तथा माता के मर्म भेदी शब्दों का कुणिक पर अपूर्व ही प्रभाव पड़ा। "शब्दों में अपूर्व ही जादू होता है एक अमृत का काम करते है तो दूसरे विष का।" शब्दों में वह शक्ति होती है जिससे पत्थर तक पिघल जाये फिर तो कुणिक एक जीव था। वह अपने कुकृत्यों की वार-वार निन्दा करने लगा, मन ही मन पश्चाताप करने लगा। उसके आंखों से आंसू वहने लगे। वह चुपचाप वहां से शीघ्र ही उठा और पिता को वंधन मुक्त करने हेतु वंदी गृह की ओर दौड़ पड़ा। "जव प्राणी के अन्तर्नेत्र खुलते हैं तो उसे अपने कृत्याकृत्य, पूर्ण रूपेण दृष्टिगोचर होने लगते है। फिर अकृत्य से पराङ्मुखता और कृत्य की ओर उन्मुखता ही नहीं अपितु दौड़ प्रारम्भ होती है।"

महाराज श्रेणिक ने क्रूर पुत्र कुणिक को दूर से ही अपनी ओर आते देखा - अज्ञात भय से उनका हृदय सिहर उठा। वे विचार करने लगे कि हाय! न जाने ये क्यों तेजी से मेरी ओर चला आ रहा है अव मेरा क्या करेगा, और क्या कष्ट देगा। इसकी क्रूरता ने सीमा का अतिक्रमण कर दिया है। मैं विवश हूँ कही जा नहीं सकता हूँ। अव तो कष्ट से बचने का एक ही उपाय है और वह है प्राण त्याग। अब मुझे इसके अत्याचार नहीं देखे जाते और न ही अब कष्ट सहा जाता है। प्राण त्याग कर ही मैं अब इसके बंधन से विदा ले सकता हूँ अन्यथा ये मुझे तड़फा-तड़फा कर मारेगा इत्यादि सोचते हुए उन्होंने शीघ्र ही तलवार निकाल ली और जोर से उस पर अपनी ग्रीवा पटक ली। फिर क्या था देखते ही देखते उनका प्राणान्त हो गया। निर्धैयता का परिणाम कितना गम्भीर एवं भयानक होता है। यद्यपि यह बात इस दृष्टान्त से शब्दशः मिलती है। फिर भी "जैसी गति वैसी मती" यह कहावत भी अपना पूर्ण स्थान रखती है। पुत्र कुणिक के माथे पर पितृहंता की अमिट छाप लग गई।

देखिए! कर्म की गति, कुणिक के जन्म से ही विपरीत कुलक्षणों को देख एवं उनके फलादेश सुनकर भी महाराज श्रेणिक ने उसकी रक्षा और उत्थान ही किया, किन्तु कुणिक ने उन्हें पूर्वापार सोच बिना ही बंदी बनाकर यातनाएँ दी। दूसरी ओर महाराज श्रेणिक भी इतने दूरदर्शी गंभीर विचारवान होने पर भी अंत में अपना धैर्य खो बैठे, और कुणिक के अचानक आने के हेतु को ना समझ प्राणों से हाथ धो बैठे। ठीक ही है अशुभ के तीव्रोदय में मति भी विपरीत हो जाती है। वह भी साथ नहीं देती, सुख-दुःख में, भलाई-बुराई में, मित्र-शत्रु में परिवर्तित हो जाते हैं।

अतः हमें चाहिये कि हम सदा ऐसे शुभ कार्य करें जो भविष्य में सुख, शांति, विवेक और धैर्य को जन्म दे सकें।

*****

४८. महारानी चेलना का वैराग्य

संयोग सदैव वियोग का साथी होता है। जिस वस्तु का संयोग हुआ है उसका वियोग अवश्यंभावी है। संयोग चार क्षणों का होता है। किन्तु वह चार क्षणों का संयोग चिरकालीन मोह के सुदृढ़ पाशों से बांध देता है। संयोग के समय जितना सुख नहीं होता, वियोग के क्षणों में उससे कई गुना दुःख होता है। यद्यपि यह अटल सत्य है कि मृत्यु के पश्चात् कोई किसी के साथ नहीं जाता है फिर भी मोह के चंद क्षणों में व्यक्ति सब कुछ भूल जाता है। जिससे संयोग हुआ उसे वह अपना अभिन्न अंग मान बैठता है और उसके बिना अपने आपको लिए अधूरा एवं अपंग मान बैठता है। महारानी चेलना की यही दशा थी। पति वियोग का उन्हें असह्य दुःख था। चिंता की आग में झुलस रही थी। जीवन उन्हें मृत्यु से भी भयानक भास रहा था। अचानक ही चिन्ता ने करवट बदली, आंसुओं की बहती धार थी, नेत्र खुले, उन्होंने गहरी श्वांस ली, हृदय हलका हुआ, चिन्तन ने जन्म लिया वे विचारने लगी – अरे ! क्या हो गया मुझे? ये मैं क्या कर रही हूँ? भगवान महावीर का उपदेश क्या इतनी जल्दी विस्मृत हो गया? क्या उन्होंने यही कहा था? यही सिखाया था? नहीं ! नहीं ! ये तो मेरी भूल है, अज्ञानता और मोह का ही ये परिपाक है। धिक्कार है मुझे। मैंने प्रभु के उपदेशों पर जरा भी ध्यान नहीं दिया, उन्होंने जो कहा था वही तो हुआ उन्होंने मुझे बार समझाया था कि संयोग के उन चार क्षणों से बचना, जो जीवन विनाशक मोह को जन्म देकर चिरकाल के लिए प्राणी के लिए तड़फा दे। सत्य कहा था उन्होंने। महाराज का वियोग एक न एक दिन अवश्यंभावी था। संसार में कौन किसके साथ क्या? सब स्वप्नों के खेल है। संसार स्वार्थ का घर है। समस्त ऐश्वर्य बिजली की चमक के समान अस्थिर है। मात्र पुण्योदय तक ही साथी है। पुण्य क्षीण हो जाने पर यह भी दरिद्रता की विकराल अंधेरी में खड़ा कर देता है। शरीर अत्यंत अशुचि

है। रोगों की खान है। एक न एक एक दिन धोखा देने वाला है। धोखा देने वाला प्राणी विश्वास का पात्र नहीं हो सकता। मैं क्यों इसके श्रृंगारों में आसक्त रहूँ। शरीर ही पाप का मूल है और धर्म का साधन भी। शरीर में आसक्ति आत्मा का पतन करती है और विरक्ति आत्मा को पावन बनाती है। निश्चित मैं अपनी आत्मा को पावन बनाऊँगी। मुझे यह दुर्लभ सुहाना अवसर प्राप्त हुआ। अब मैं अपने कदम कल्याण मार्ग पर बढ़ाऊँगी। इत्यादि विचार कर उन्होंने समस्त परिवार जनों को धैर्य बंधाया तथा उचित शिक्षा दी। पश्चात् महावीर स्वामी के समवशरण में जा धूमधाम से उनकी भक्तिपूजन कर उनके चरणों में महारानी चेलना ने अनेक रानियों के साथ आर्यिका दीक्षा ले ली और विविध तपों से वे अपनी आत्मा का श्रृंगार करने लगीं। जीवन के अन्त में समाधि सहित मरण कर वे स्वर्ग में एक देव के रूप में उत्पन्न हुईं।

देखिये ! घटनाएँ प्राय: प्रत्येक के जीवन में घटती है। वियोग से संयोग या संयोग से वियोग के अनेक अवसर आते रहते हैं किंतु वियोग के अवसर पर अज्ञानी रोता है, चिल्लाता है और विवेक शून्य हो आत्म हनन या हत्या के विषय में सोचने लगता है और कई बार ऐसा देखा भी जाता है कि वह उक्त कार्य को कर बैठता है। किंतु क्या ऐसा करने से वापिस आ सकता है। और यदि एक बार कोई आ भी जाये तो उसका वियोग कभी नहीं होगा क्या? क्या इस सत्य को कोई बदल सकता है? नहीं ! इत्यादि विचार कर ज्ञानी पुरूष ऐसे अवसर पर धैर्य और विवेक को जागृत कर आत्महित की ओर कदम बढ़ाकर अपने जीवन को सार्थक करते हैं।

अत: हमें चाहिये कि हम अपने जीवन की सभी अवस्थाओं में धैर्य और विवेक के साथ रहें, सोचें, समझें और चलें।

*****

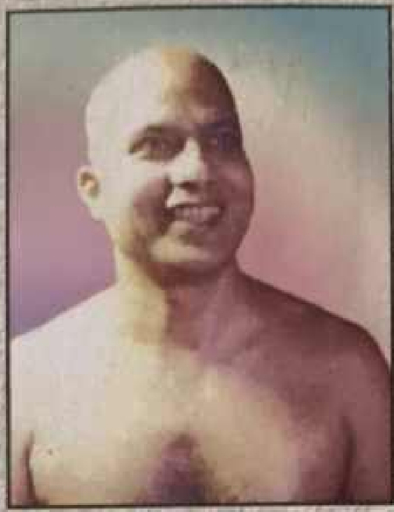

जीवन बिन्दु

पूर्व नाम	:	अरविन्द कुमार जैन
जन्म	:	२ मई १९६३, शुक्रवार (वैशाख शु. ९ संवत २०२०, पथरिया)
माता, पिता	:	श्रीमती श्यामदेवी जैन, श्री कपूरचंदजी जैन
लौकिक शिक्षा	:	इण्टर (पथरिया, जैन शांति निकेतन, कटनी म.प्र.)
क्षुल्लक दीक्षा	:	२० फरवरी १९८०, (फाल्गुन शु. ५ सं. २०३६ बुढार, शहडोल)
नामकरण	:	पूज्य १०५ श्री पूर्णसागरजी महाराज
मुनि दीक्षा	:	९ दि. १९८३ (मगसर शु. ५ वि.सं.२०४०), औरंगाबाद (महा.)
मुनि दीक्षा गुरु	:	प.पू. आचार्य श्री १०८ विमल सागरजी महाराज
आचार्य पद	:	८ नव. ९२ (कार्तिक शु. १३ वि.सं. २०४९) रविवार, द्रोणागिरी
संयम सृजन	:	मुनि ३५; आर्यिका ३२; ऐलक १० ; क्षुल्लक २१; क्षुल्लिका ६ तथा ब्रम्हचारी भाई, बहने ५०
समाधि संल्लेखनायें	:	१९
चातुर्मास	:	१९८० से २००४ तक क्रमशः दुर्ग, नागपूर, कारंजा(लाड), कारंजा(लाड), भावनगर, पांचवा, निवाज, जयपूर, भिण्ड, भिण्ड, टीकमगढ, श्रेयांसगिरी द्रोणागिरी, श्रेयांसगिरी, बीना, ललितपूर, मढीयाजी (जबलपूर) भिण्ड, भिण्ड, भिण्ड, शिखरजी, गया, श्रेयांसगिरी, भिलाई, कारंजा(लाड)

आनंद, कारंजा - २२२९७३